॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

बृहदारण्यकोपनिषद्

बृहदारण्यक-उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदकी काण्वी शाखाके वाजसनेयि ब्राह्मणके अन्तर्गत है। आकारमें यह सबसे बृहत् (बड़ी) है एवं अरण्य (वनमें) अध्ययन की जानेसे इसे आरण्यक कहा जाता है। इस प्रकार 'बृहत्' और 'आरण्यक' होनेके कारण इसका 'बृहदारण्यक' नाम हो गया।

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इसका अर्थ ईशावास्योपनिषद्के प्रारम्भमें दिया जा चुका है।

प्रथम अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

यज्ञकी अश्वके रूपमें कल्पना

ॐ उषा (ब्राह्ममुहूर्त्त) यज्ञसम्बन्धी अश्वका सिर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, वैश्वानर अग्नि खुला हुआ मुख है और संवत्सर यज्ञिय अश्वका आत्मा है। द्युलोक उसका पीठ है, अन्तरिक्ष उदर है, पृथिवी पैर रखनेका स्थान है, दिशाएँ पार्श्वभाग हैं, अवान्तर दिशाएँ पसलियाँ हैं, ऋतुएँ अङ्ग हैं, मास और अर्द्धमास पर्व (सन्धिस्थान) हैं, दिन और रात्रि प्रतिष्ठा (पाद) हैं, नक्षत्र अस्थियाँ हैं, आकाश (आकाशस्थित मेघ) मांस हैं, बालू ऊवध्य (उदरस्थित अर्धजीर्ण अन्न) है, नदियाँ गुदा—नाडियाँ हैं, पर्वत यकृत् और हृदयगत मांसखण्ड हैं, औषधि और वनस्पतियाँ रोम हैं, उदय होता हुआ सूर्य नाभिसे ऊपरका भाग और अस्त होता हुआ सूर्य कटिसे नीचेका भाग है। उसका जमुहाई लेना बिजलीका चमकना है और शरीर हिलाना मेघका गर्जन है। वह जो मूत्र त्याग करता है वही वर्षा है और हिनहिनाना ही उसकी वाणी है॥ १॥

अश्वके सामने महिमारूपसे दिन प्रकट हुआ; उसकी पूर्वसमुद्र योनि है। रात्रि इसके पीछे महिमारूपसे प्रकट हुई; उसकी अपर (पश्चिम—) समुद्र योनि है। ये ही दोनों इस अश्वके आगे-पीछेके महिमासंज्ञक ग्रह हुए। इसने हय होकर देवताओंको, वाजी होकर गन्धर्वोंको, अर्वा होकर असुरोंको और अश्व होकर मनुष्योंको वहन किया है। समुद्र ही इसका बन्धु है और समुद्र ही उद्गमस्थान है॥ २॥

द्वितीय ब्राह्मण

प्रलयके अनन्तर सृष्टिकी उत्पत्ति

पहले यहाँ कुछ भी नहीं था। यह सब मृत्युसे-प्रलयसे ही आवृत था। यह अशनाया (क्षुधा)-से आवृत था। अशनाया ही मृत्यु है। उसने 'मैं आत्मा (मन)-से युक्त होऊँ' ऐसा मन—संकल्प किया। उसने अर्चन (पूजन) करते हुए आचरण किया। उसके अर्चन करनेसे आप (सूक्ष्म जल) हुआ। अर्चन करते हुए मेरे लिये क (जल) प्राप्त हुआ है, अतः यही अर्कका* अर्कत्व है। जो इस प्रकार अर्कके

---

*'अर्चते कम् अर्कम्' अर्थात् जिसके अर्चन करनेवालेको क (जल या सुख) हो उसका नाम अर्क है। इस व्युत्पत्तिसे 'अर्क' अग्निको कहते हैं।

इस अर्कत्वको जानता है उसे निश्चय क (सुख) होता है॥ १॥

आप (जल) ही अर्क हैं। उन आपोंका जो शर (स्थूलभाग) था, वह एकत्रित हो गया। वह पृथिवी हो गयी। उसके उत्पन्न होनेपर वह [मृत्यु] थक गया। उस थके और तपे हुए प्रजापतिके शरीरसे उसका सारभूत तेज अग्नि प्रकट हुआ॥ २॥

उस अग्निने अपनेको तीन प्रकारसे विभक्त किया। उसने आदित्यको तीसरा भाग किया और वायुको तीसरा। इस प्रकार यह प्राण तीन भागोंमें हो गया। उसका पूर्व दिशा सिर है तथा इधर-उधरकी (ईशानी और आग्नेयी) विदिशाएँ बाहु हैं। इसी प्रकार पश्चिम दिशा इसका पुच्छ है तथा इधर-उधरकी (वायव्य और नैर्ऋत्य) विदिशाएँ जङ्घाएँ हैं। दक्षिण और उत्तर दिशाएँ उसके पार्श्व हैं, द्युलोक पृष्ठभाग है, अन्तरिक्ष उदर है, यह (पृथिवी) हृदय है। यह (अग्निरूप विराट् प्रजापति) जलमें स्थित है। इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष जहाँ-कहीं जाता है, वहीं प्रतिष्ठित होता है॥ ३॥

उसने कामना की कि मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो; अत: उस अशनायारूप मृत्युने मनसे वेदत्रयीरूप मिथुनकी भावना की। उससे जो रेत (बीज) हुआ, वह संवत्सर हुआ। इससे पूर्व संवत्सर नहीं था। उस संवत्सरको, जितना संवत्सरका काल होता है, उतने समयतक वह (मृत्युरूप प्रजापति) गर्भमें धारण किये रहा। इतने समयके पीछे उसने उसको उत्पन्न किया। उस उत्पन्न हुए कुमारके प्रति मुख फैलाया। इससे उसने 'भाण्' ऐसा शब्द किया। वही (नाद) वाक् हुआ। उसने विचार किया, 'यदि मैं इसे मार डालूँगा तो यह थोड़ा-सा ही अन्न [भोजन] करूँगा।' अत: उसने उस वाणी और उस मनके द्वारा इन सबको रचा, जो कुछ भी ये ऋक्, यजु:, साम, छन्द, यज्ञ, प्रजा और पशु हैं। उसने जिस-जिसकी रचना की उसी-उसीको खानेका विचार किया। वह सबको खाता है, यही उस अदितिका अदितित्व है। जो इस प्रकार इस अदितिके अदितित्वको जानता है वह इस सबका अत्ता (भोक्ता) होता है और यह सब उसका अन्न (भोग्य) होता है॥ ४-५॥

उसने यह कामना की कि मैं पुन: महान् यज्ञसे यजन करूँ। इससे वह श्रमित हो गया। उसने तप किया। उस थके और तपे हुए मृत्युका यश और वीर्य निकल गया। प्राण ही यश और वीर्य हैं। तब प्राणोंके निकल जानेपर शरीरने फूलना आरम्भ किया, किंतु उसका मन शरीरमें ही रहा॥ ६॥

उसने कामना की कि मेरा यह शरीर मेध्य (यज्ञिय) हो, मैं इसके द्वारा शरीरवान् होऊँ। क्योंकि वह शरीर अश्वत् अर्थात् फूल गया था, इसलिये वह अश्व हो गया और वह मेध्य हुआ। अत: यही अश्वमेधका अश्वमेधत्व है। जो इसे इस प्रकार जानता है वही अश्वमेधको जानता है। उसने उसे अवरोधरहित (बन्धनशून्य) ही चिन्तन किया। उसने संवत्सरके पश्चात् उसका अपने ही लिये (अर्थात् इसका देवता प्रजापति है—इस भावसे) आलभन किया तथा अन्य पशुओंको भी देवताओंके प्रति पहुँचाया। अत: याज्ञिकलोग मन्त्रद्वारा संस्कार किये हुए सर्वदेवसम्बन्धी प्राजापत्य पशुका आलभन करते हैं। यह जो [सूर्य] तपता है वही अश्वमेध है। उसका संवत्सर शरीर है, यह अग्नि अर्क है तथा उसके ये लोक आत्मा हैं। ये ही दोनों (अग्नि और आदित्य) अर्क और अश्वमेध हैं, किंतु वे मृत्युरूप एक ही देवता हैं। जो इस प्रकार जानता है, वह पुनर्मृत्युको जीत लेता है; उसे मृत्यु नहीं पा सकता, मृत्यु उसका आत्मा ही हो जाता है तथा वह इन देवताओंमेंसे ही एक हो जाता है॥ ७॥

तृतीय ब्राह्मण

प्राण-महिमा

प्रजापतिके दो प्रकारके पुत्र थे—देव और असुर। उनमें देव थोड़े ही थे और असुर अधिक थे। इन लोकोंमें वे परस्पर स्पर्धा (डाह) करने लगे। उनमेंसे देवताओंने कहा—'हम यज्ञमें उद्गीथके द्वारा असुरोंका अतिक्रमण करें'॥ १॥

उन देवताओंने वाक्से कहा, 'तुम हमारे लिये

उद्गान करो।' वाक्‌ने 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उनके लिये उद्गान किया। उसने जो वाणीमें भोग था, उसे देवताओंके लिये आगान किया और जो शुभ भाषण करती थी, उसे अपने लिये गाया। तब असुरोंने जाना कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उन्होंने उसके पास जाकर उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह वाणी जो अनुचित (असत्य-कटुवचनादि) भाषण करती है, वही वह पाप है, वही वह पाप है। फिर उन्होंने [घ्राणरूप] प्राणसे कहा, 'तुम हमारे लिये उद्गान करो।' तब प्राणने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्गान किया। प्राणमें जो भोग है, उसे उसने देवताओंके लिये आगान किया और जो कुछ वह शुभ गन्ध सूँघता है, उसे अपने लिये गाया। असुरोंको मालूम हुआ कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उन्होंने उसके समीप जाकर उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अनुचित सूँघता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है। फिर उन्होंने चक्षुसे कहा, 'तुम हमारे लिये उद्गान करो।' तब चक्षुने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्गान किया। चक्षुमें जो भोग है, उसे उसने देवताओंके लिये आगान किया और जो कुछ वह शुभ दर्शन करता है, उसे अपने लिये गाया। असुरोंको मालूम हुआ कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उन्होंने उसके पास जाकर उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अनुचित (निषिद्ध पदार्थोंको) देखता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है। फिर उन्होंने श्रोत्रसे कहा, 'तुम हमारे लिये उद्गान करो।' तब श्रोत्रने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्गान किया। श्रोत्रमें जो भोग है, उसे उसने देवताओंके लिये आगान किया और वह जो शुभ श्रवण करता है, उसे अपने लिये गाया। असुरोंने जाना कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उसके पास जाकर उन्होंने उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अनुचित (ईश्वरनिन्दा, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा आदि) श्रवण करता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है। फिर उन्होंने मनसे कहा, 'तुम हमारे लिये उद्गान कर।' तब मनने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्गान किया। मनमें जो भोग है, उसे उसने देवताओंके लिये आगान किया और वह जो शुभ सङ्कल्प करता है, उसे अपने लिये गाया। असुरोंको मालूम हुआ कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उसके पास जाकर उन्होंने उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अनुचित (काम-क्रोध-लोभ-वैर-हिंसा आदिके) संकल्प करता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है। इस प्रकार निश्चय ही इन देवताओंको पापका संसर्ग हुआ और ऐसे ही [असुरोंने] इन्हें पापसे विद्ध किया॥ २—६॥

फिर अपने मुखमें रहनेवाले प्राणसे कहा—'तुम हमारे लिये उद्गान करो।' तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर इस प्राणने उनके लिये उद्गान किया। असुरोंने जाना कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उन्होंने उसके पास जाकर उसे पापसे विद्ध करना चाहा, किंतु जिस प्रकार पत्थरसे टकराकर मिट्टीका ढेला नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार वे विध्वस्त होकर अनेक प्रकारसे नष्ट हो गये। तब देवगण [विजेता होकर] प्रकृतिस्थ हो गये और असुरोंका पराभव हुआ। जो इस प्रकार जानता है, वह प्रजापतिरूपसे स्थित होता है और उससे द्वेष करनेवाले भ्रातृव्य (सौतेले भाई)-का पराभव होता है॥ ७॥

वे बोले, 'जिसने हमें इस प्रकार देवभावको प्राप्त करवाया है, वह कहाँ है?' [उन्होंने विचार करके निश्चय किया कि] 'यह आस्य (मुख)-के भीतर है, अतः यह अयास्य आङ्गिरस है, क्योंकि यह अङ्गोंका सार—रस है।' इस पूर्वोक्त देवताका 'दूर्' नाम है, क्योंकि इससे मृत्यु दूर है। जो ऐसा जानता है, उससे मृत्यु दूर रहता है॥ ८-९॥

उस इस प्राणदेवताने इन वागादि देवताओंके पापरूप मृत्युको हटाकर जहाँ इन दिशाओंका अन्त है वहाँ पहुँचा दिया। वहाँ इनके पापको उसने तिरस्कारपूर्वक स्थापित कर दिया। अतः 'मैं पापरूप मृत्युसे संश्लिष्ट न हो जाऊँ' इस भयसे अन्त्यजनोंके पास न जाय और अन्त दिशामें भी न जाय। उस इस प्राणदेवताने इन देवताओंके पापरूप मृत्युको दूरकर फिर इन्हें मृत्युके पार [अग्न्यादि देवतात्मभावको प्राप्त] कर दिया। उस प्रसिद्ध प्राणने प्रधान वाग्देवताको [मृत्युके] पार पहुँचाया। वह वाक् जिस समय मृत्युसे पार हुई, यह अग्नि हो गयी। वह यह अग्नि मृत्युसे परे उसका अतिक्रमण करके देदीप्यमान है। फिर प्राणका अतिवहन किया। वह जिस समय मृत्युसे

पार हुआ, यह वायु हो गया। वह यह अतिक्रान्त वायु मृत्युसे परे बहता है। फिर चक्षुका अतिवहन किया। वह जिस समय मृत्युसे पार हुआ, यह आदित्य हो गया। वह यह अतिक्रान्त आदित्य मृत्युसे परे तपता है। फिर श्रोत्रका अतिवहन किया। वह जिस समय मृत्युसे पार हुआ, यह दिशा हो गया। वे ये अतिक्रान्त दिशाएँ मृत्युसे परे हैं। फिर मनका अतिवहन किया। वह जिस समय मृत्युसे पार हुआ, यह चन्द्रमा हो गया। वह यह अतिक्रान्त चन्द्रमा मृत्युसे परे प्रकाशमान है। इसी प्रकार यह देवता उसका मृत्युसे अतिवहन करती है जो कि इसे इस प्रकार जानता है। फिर उसने अपने लिये अन्नाद्यरूपी खाद्यका आवाहन किया, क्योंकि जो भी कुछ अन्न खाया जाता है, वह प्राणके ही द्वारा खाया जाता है तथा उस अन्नमें प्राण प्रतिष्ठित होता है॥ १०—१७॥

वे देवगण बोले, 'यह जो अन्न है, वह सब तो इतना ही है; उसे तुमने अपने लिये आवाहन कर लिया है। अतः अब पीछेसे हमें भी इस अन्नमें भागी बनाओ।' [प्राणने कहा] 'वे तुमलोग सब ओरसे मुझमें प्रवेश कर जाओ।' तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर वे सब ओरसे उसमें प्रवेश कर गये। अतः प्राणके द्वारा पुरुष जो अन्न खाता है उससे ये प्राण भी तृप्त होते हैं। अतः जो इस प्रकार जानता है उसका ज्ञातिजन सब ओरसे आश्रय ग्रहण करते हैं, वह स्वजनोंका भरण करनेवाला, उनमें श्रेष्ठ और उनके आगे चलनेवाला होता है तथा अन्न भक्षण करनेवाला और सबका अधिपति होता है। ज्ञातियोंमेंसे जो भी इस प्रकार जाननेवालेके प्रति प्रतिकूल होना चाहता है वह अपने आश्रितोंका पोषण करनेमें समर्थ नहीं होता और जो भी इसके अनुकूल रहता है—जो भी इसके अनुसार रहकर अपने आश्रितोंका भरण करना चाहता है वह निश्चय ही अपने आश्रितोंके भरणमें समर्थ होता है॥ १८॥

वह प्राण अयास्य आङ्गिरस है, क्योंकि वह अङ्गोंका रस (सार) है। प्राण ही अङ्गोंका रस है; निश्चय प्राण ही अङ्गोंका रस है, क्योंकि जिस किसी अङ्गसे प्राण उत्क्रमण कर जाता है, वह उसी जगह सूख जाता है; अतः यही अङ्गोंका रस है। यही बृहस्पति है। वाक् ही बृहती है, उसका यह पति है; इसलिये यह बृहस्पति है। यही ब्रह्मणस्पति है। वाक् ही ब्रह्म—वेद है, उसका यह पति है; इसलिये यह ब्रह्मणस्पति है। यही साम है। वाक् ही 'सा' है और यह (प्राण) अम है। 'सा' और 'अम' ही साम हैं। यही सामका सामत्व है। क्योंकि यह प्राण मक्खीके समान है, मच्छरके समान है, हाथीके समान है, इस त्रिलोकीके समान है और इस सभीके समान है, इसीसे यह साम है। जो इस सामको इस प्रकार जानता है वह सामका सायुज्य और उसकी सलोकता प्राप्त करता है। यही उद्गीथ है। प्राण ही उत् है, प्राणके द्वारा ही यह सब उत्तब्ध—धारण किया हुआ है। वाक् ही गीथा है। वह उत् है और गीथा भी है; इसलिये उद्गीथ है॥ १९—२३॥

उस [प्राण]-के विषयमें यह आख्यायिका भी है—चैकितानेय ब्रह्मदत्तने यज्ञमें सोम भक्षण करते हुए कहा, 'यदि अयास्य और आङ्गिरस नामक मुख्य प्राणने वाणीसे युक्त प्राणसे भिन्न अन्य देवताद्वारा उद्गान किया हो तो यह सोम मेरा सिर गिरा दे।' अतः उसने प्राण और वाक्के ही द्वारा उद्गान किया था—ऐसा निश्चय होता है॥ २४॥

जो इस पूर्वोक्त सामशब्दवाच्य मुख्य प्राणके स्व (धन)-को जानता है उसे धन प्राप्त होता है। निश्चय स्वर ही उसका धन है। अतः ऋत्विक् कर्म करनेवालेको वाणीमें स्वरकी इच्छा करनी चाहिये। उस स्वरसम्पन्न वाणीसे ऋत्विक् कर्म करे। इसीसे यज्ञमें स्वरवान् उद्गाताको देखनेकी इच्छा करते ही हैं। लोकमें भी जिसके पास धन होता है [उसे ही देखना चाहते हैं]। जो इस प्रकार इस सामके धनको जानता है उसे धन प्राप्त होता है। जो उस सामके सुवर्णको जानता है उसे सुवर्ण प्राप्त होता है। उसका स्वर ही सुवर्ण है। जो इस प्रकार इस सामके सुवर्णको जानता है उसे सुवर्ण मिलता है। जो उस सामकी प्रतिष्ठाको जानता है वह प्रतिष्ठित होता है। उसकी वाणी ही प्रतिष्ठा है। निश्चय वाणीमें प्रतिष्ठित हुआ ही यह प्राण गाया जाता है। कोई-कोई यह कहते हैं कि 'वह अन्नमें प्रतिष्ठित होकर गाया जाता है'॥ २५—२७॥

अब आगे पवमान नामक सामोंका ही अभ्यारोह कहा जाता है। वह प्रस्तोता निश्चय सामका ही प्रस्ताव (आरम्भ) करता है। जिस समय वह प्रस्ताव करे उस समय इन मन्त्रोंको जपे—'**असतो मा सद्गमय**', '**तमसो मा ज्योतिर्गमय**', '**मृत्योर्मामृतं गमय**'।* वह जिस समय कहता है—'मुझे असत्से सत्की ओर ले जाओ' यहाँ

* 'मुझे असत्से सत्की ओर ले जाओ', 'मुझे अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले जाओ', 'मुझे मृत्युसे अमरत्वकी ओर ले जाओ।'

मृत्यु ही असत् है और अमृत सत् है। अतः वह यही कहता है कि मुझे मृत्युसे अमृतकी ओर ले जाओ अर्थात् मुझे अमर कर दो। जब कहता है—'मुझे अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले जाओ' तो यहाँ मृत्यु ही अन्धकार है और अमृत ज्योति है। यानी उसका यही कथन है कि मृत्युसे अमृतकी ओर ले जाओ—मुझे अमर कर दो। मुझे मृत्युसे अमृतकी ओर ले जाओ—इसमें तो कोई बात छिपी है ही नहीं। इनके पीछे जो अन्य स्तोत्र हैं उनमें अपने लिये अन्नाद्यका आगान करे। उनका गान किये जानेपर यजमान वर माँगे और जिस भोगकी इच्छा हो, उसे माँगे। इस प्रकार जाननेवाला उद्गाता अपने या यजमानके लिये जिस भोगकी कामना करता है उसीका आगान करता है। वह यह प्राणदर्शन लोकप्राप्तिका साधन है। जो इस प्रकार इस सामको जानता है उसे लोक-प्राप्ति न होनेकी आशा तो होती ही नहीं॥ २८॥

चतुर्थ ब्राह्मण

ब्रह्मकी सर्वरूपता और चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि

पहले यह पुरुषाकार आत्मा ही था। उसने आलोचना करनेपर अपनेसे भिन्न और कोई न देखा। उसने आरम्भमें '**अहमस्मि**'[1] ऐसा कहा, इसलिये उसका '**अहम्**' नाम हुआ। इसीसे अब भी पुकारे जानेपर पहले '**अयमहम्**'[2] ऐसा ही कहकर उसके पश्चात् अपना जो दूसरा नाम होता है वह बतलाता है। क्योंकि इस सबसे पूर्ववर्ती उस [आत्मासंज्ञक प्रजापति]-ने समस्त पापोंको उषन—दग्ध कर दिया था इसलिये यह पुरुष हुआ। जो ऐसी उपासना करता है, वह उसे दग्ध कर देता है, जो उससे पहले प्रजापति होना चाहता है॥ १॥

वह भयभीत हो गया। इसीसे अकेला पुरुष भय मानता है। उसने यह विचार किया 'यदि मेरे सिवा कोई दूसरा नहीं है तो मैं किससे डरता हूँ?' तभी उसका भय निवृत्त हो गया। किंतु उसे भय क्यों हुआ? क्योंकि भय तो दूसरेसे ही होता है। वह [अकेला] रमण नहीं करता था। इसी कारण अब भी एकाकी पुरुष रमण नहीं करता। उसने दूसरेकी इच्छा की। जिस प्रकार परस्पर आलिङ्गित स्त्री और पुरुष होते हैं, वैसा ही उसका परिमाण हो गया। उसने इस अपनी देहको ही दो भागोंमें विभक्त कर डाला। उससे पति और पत्नी हुए। इसलिये यह शरीर अर्द्धबृगल (द्विदल अन्नके एक दल)-के समान है—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। इसलिये यह [पुरुषार्द्ध] आकाश स्त्रीसे पूर्ण होता है। वह उस (स्त्री)-से संयुक्त हुआ; उसीसे मनुष्य उत्पन्न हुए हैं। उस (शतरूपा)-ने यह विचार किया कि 'अपनेसे ही उत्पन्न करके यह मुझसे क्यों समागम करता है? अच्छा, मैं छिप जाऊँ' अतः वह गौ हो गयी, तब दूसरा यानी मनु वृषभ होकर उससे सम्भोग करने लगा, इससे गाय-बैल उत्पन्न हुए। तब वह घोड़ी हो गयी और मनु अश्वश्रेष्ठ हो गया। फिर वह गर्दभी हो गयी और मनु गर्दभ हो गया और उससे समागम करने लगा। इससे एक खुरवाले पशु उत्पन्न हुए। तदनन्तर शतरूपा बकरी हो गयी और मनु बकरा हो गया। फिर वह भेड़ हो गयी और मनु भेड़ा होकर उससे समागम करने लगा। इससे बकरी और भेड़ोंकी उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार चींटीसे लेकर ये जितने मिथुन (स्त्री-पुरुषरूप जोड़े) हैं, उन सभीकी उन्होंने रचना कर डाली॥ २—४॥

उस प्रजापतिने 'मैं ही सृष्टि हूँ' ऐसा जाना। मैंने इस सबको रचा है। इस कारण वह 'सृष्टि' नामवाला हुआ। जो ऐसा जानता है वह इस (प्रजापति)-की सृष्टिमें [स्रष्टा] होता है। फिर उसने इस प्रकार मन्थन किया। उसने मुखरूप योनिसे दोनों हाथोंद्वारा [मन्थन करके] अग्निको रचा। इसलिये ये दोनों भीतरकी ओरसे रोमरहित हैं, क्योंकि योनि भी भीतरसे रोमरहित ही होती है। अतः [याज्ञिक लोग अग्नि, इन्द्र आदिको] एक-एक (भिन्न-भिन्न) देवता मानते हुए जो ऐसा कहते हैं कि 'इस (अग्नि)-का यजन करो, इस (इन्द्र)-का यजन करो' सो वह तो इस एक ही देवकी विसृष्टि है। यह [प्रजापति] ही सर्वदेवरूप है। इसके बाद जो कुछ यह द्रवरूप है, उसे उसने वीर्यसे उत्पन्न किया, वही सोम है। इतना ही

१. मैं हूँ। २. यह मैं हूँ।

यह सब अन्न और अन्नाद है। सोम ही अन्न है और अग्नि ही अन्नाद है। यह ब्रह्माकी अतिसृष्टि है कि उसने अपनेसे उत्कृष्ट देवताओंकी रचना की—स्वयं मर्त्य होनेपर भी अमृतोंको उत्पन्न किया। इसलिये यह अतिसृष्टि है। जो इस प्रकार जानता है वह इसकी इस अतिसृष्टिमें ही हो जाता है॥ ५-६॥

यह पूर्वोक्त जगत् उस समय (उत्पत्तिसे पूर्व) अव्याकृत था। वह नाम-रूपके योगसे व्यक्त हुआ; अर्थात् 'यह इस नाम और इस रूपवाला है' इस प्रकार व्यक्त हुआ। अतः इस समय भी यह अव्याकृत वस्तु 'इस नाम और इस रूपवाली है' इस प्रकार व्यक्त होती है। वह यह (व्याकर्ता) इस (शरीर)-में नखाग्रपर्यन्त प्रवेश किये हुए है, जिस प्रकार कि छुरा छुरेके घरमें छिपा रहता है अथवा विश्वका भरण करनेवाला अग्नि अग्निके आश्रय (काष्ठादि)-में गुप्त रहता है, परंतु उसे लोग देख नहीं सकते। वह असम्पूर्ण है; प्राणनक्रियाके कारण ही वह प्राण है, बोलनेके कारण वाक् है, देखनेके कारण चक्षु है, सुननेके कारण श्रोत्र है और मनन करनेके कारण मन है। ये इसके कर्मानुसारी नाम ही हैं। अतः इनमेंसे जो एक-एककी उपासना करता है, वह नहीं जानता। वह असम्पूर्ण ही है। वह एक-एक विशेषणसे ही युक्त होता है। अतः 'आत्मा है' इस प्रकार ही उसकी उपासना करे; क्योंकि इस (आत्मा)-में ही वे सब एक हो जाते हैं। यह जो आत्मा है, वही इन सबका प्राप्तव्य है; क्योंकि यह आत्मा है, इस आत्माके ज्ञात होनेसे ही मनुष्य इस सब जगत्को जानता है। जिस प्रकार पदों (खुर आदिके चिह्नों) द्वारा [खोये हुए पशुको] प्राप्त कर लेते हैं, उसी प्रकार जो ऐसा जानता है, वह इसके द्वारा यश और इष्ट पुरुषोंका सहवास प्राप्त करता है। वह यह आत्मतत्त्व पुत्रसे अधिक प्रिय है; धनसे अधिक प्रिय है और अन्य सबसे भी अधिक प्रिय है; क्योंकि यह आत्मा उनकी अपेक्षा अन्तरतर है। वह जो आत्मप्रियदर्शी है यदि आत्मासे भिन्न (अनात्मा)-को प्रिय कहनेवाले पुरुषसे कहे कि 'तेरा प्रिय नष्ट हो जायगा' तो वैसा ही हो जायगा; क्योंकि वह समर्थ होता है। अतः आत्मारूप प्रियकी ही उपासना करे। जो आत्मारूप प्रियकी ही उपासना करता है उसका प्रिय अत्यन्त मरणशील नहीं होता॥ ७-८॥

[ब्राह्मणोंने] यह कहा कि ब्रह्मविद्याके द्वारा मनुष्य 'हम सर्व हो जायँगे ऐसा मानते हैं; (सो) उस ब्रह्मने क्या जाना जिससे वह सर्व हो गया?'॥ ९॥

पहले यह ब्रह्म ही था; उसने अपनेको ही जाना कि मैं 'ब्रह्म हूँ'। अतः वह सर्व हो गया। उसे देवोंमेंसे जिस-जिसने जाना, वही तद्रूप हो गया। इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्योंमेंसे भी [जिसने उसे जाना, वह तद्रूप हो गया]। उसे आत्मरूपसे देखते हुए ऋषि वामदेवने जाना—'मैं मनु हुआ और सूर्य भी।' उस इस ब्रह्मको इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि मैं 'ब्रह्म हूँ', वह यह सर्व हो जाता है। उसके पराभवमें देवता भी समर्थ नहीं होते; क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है और जो अन्य देवताकी 'यह अन्य है और मैं अन्य हूँ' इस प्रकार उपासना करता है, वह नहीं जानता। जैसे पशु होता है, वैसे ही वह देवताओंका पशु है। जैसे लोकमें बहुत-से पशु मनुष्यका पालन करते हैं, उसी प्रकार एक-एक मनुष्य देवताओंका पालन करता है। एक पशुका ही हरण किये जानेपर अच्छा नहीं लगता, फिर बहुतोंका हरण होनेपर तो कहना ही क्या है? इसलिये देवताओंको यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य [ब्रह्मात्मतत्त्वको] जानें॥ १०॥

आरम्भमें यह एक ब्रह्म ही था। अकेला होनेके कारण वह विभूतियुक्त कर्म करनेमें समर्थ नहीं हुआ। उसने अतिशयतासे क्षत्र इस प्रशस्त रूपकी रचना की। अर्थात् देवताओंमें क्षत्रिय जो ये इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशानादि हैं, उन्हें उत्पन्न किया। अतः क्षत्रियसे उत्कृष्ट कोई नहीं है। इसीसे राजसूय-यज्ञमें ब्राह्मण नीचे बैठकर क्षत्रियकी उपसना करता है, वह क्षत्रियमें ही अपने यशको स्थापित करता है। यह जो ब्राह्मण है, क्षत्रियकी योनि है। इसलिये यद्यपि राजा उत्कृष्टताको प्राप्त होता है तो भी [राजसूयके] अन्तमें वह ब्राह्मणका ही आश्रय लेता है। अतः जो क्षत्रिय इस (ब्राह्मण)-की हिंसा करता है, वह अपनी योनिका ही नाश करता है। जिस प्रकार श्रेष्ठकी हिंसा करनेसे पुरुष पापी होता है, उसी प्रकार वह पापी होता है॥ ११॥

वह (ब्रह्म) विभूतियुक्त कर्म करनेमें समर्थ नहीं हुआ। उसने वैश्यजातिकी रचना की। जो ये वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत् इत्यादि देवगण गणशः कहे

जाते हैं [उन्हें उत्पन्न किया]। [फिर भी] वह विभूतियुक्त कर्म करनेमें समर्थ नहीं हुआ। उसने शूद्रवर्णकी रचना की। पूषा शूद्रवर्ण है। यह पृथिवी ही पूषा है, क्योंकि यह जो कुछ है, यही उसका पोषण करती है॥ १२-१३॥

तब भी वह विभूतियुक्त कर्म करनेमें समर्थ नहीं हुआ।उसने अतिशयतासे श्रेयोरूप धर्मको रचा। यह जो धर्म है, क्षत्रियका भी नियन्ता है। अतः धर्मसे उत्कृष्ट कुछ नहीं है।इसलिये जिस प्रकार राजाकी सहायतासे [प्रबल शत्रुको भी जीतनेकी शक्ति आ जाती है] उसी प्रकार धर्मके द्वारा निर्बल पुरुष भी बलवान्‌को जीतनेकी इच्छा करने लगता है। वह जो धर्म है, निश्चय सत्य ही है। इसीसे सत्य बोलनेवालेके विषयमें कहते हैं कि 'यह धर्म भाषण करता है' तथा धर्म भाषण करनेवालेसे कहते हैं कि 'यह सत्य भाषण करता है', क्योंकि ये दोनों यही (धर्म ही) हैं॥ १४॥

वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं। [इन्हें उत्पन्न करनेवाला] ब्रह्म अग्निरूपसे देवताओंमें ब्राह्मण हुआ तथा मनुष्योंमें ब्राह्मणरूपसे ब्राह्मण, क्षत्रियरूपसे क्षत्रिय, वैश्यरूपसे वैश्य और शूद्ररूपसे शूद्र हुआ। इसीसे अग्निमें ही [कर्म करके] देवताओंके बीच कर्मफलकी इच्छा करते हैं तथा मनुष्योंके बीच ब्राह्मणजातिमें ही कर्मफलकी इच्छा करते हैं, क्योंकि ब्रह्म इन दो रूपोंसे ही व्यक्त हुआ था तथा जो कोई इस लोकसे आत्माका दर्शन किये बिना ही चला जाता है, उसका यह अविदित आत्मलोक [शोक-मोहादिकी निवृत्तिके द्वारा] वैसे ही पालन नहीं करता, जैसे कि बिना अध्ययन किया हुआ वेद अथवा बिना अनुष्ठान किया हुआ कोई अन्य कर्म। इस प्रकार (आत्माको) न जाननेवाला पुरुष यदि इस लोकमें कोई महान् पुण्यकर्म भी करे तो भी अन्तमें उसका वह कर्म क्षीण हो ही जाता है; अतः आत्मलोककी ही उपासना करनी चाहिये। जो पुरुष आत्मलोककी ही उपासना करता है, उसका कर्म क्षीण नहीं होता। इस आत्मासे पुरुष जिस-जिस वस्तुकी कामना करता है, उसी-उसीको प्राप्त कर लेता है॥ १५॥

यह आत्मा (गृही कर्माधिकारी) समस्त जीवोंका लोक (भोग्य) है। वह जो हवन और यज्ञ करता है, उससे देवताओंका भोग्य होता है; जो स्वाध्याय करता है, उससे ऋषियोंका; जो पितरोंके लिये पिण्डदान करता है और सन्तानकी इच्छा करता है, उससे पितरोंका; जो मनुष्योंको वासस्थान और भोजन देता है, उससे मनुष्योंका और जो पशुओंको तृण एवं जलादि पहुँचाता है, उससे पशुओंका भोग्य होता है। इसके घरमें जो [कुत्ते-बिल्ली आदि] श्वापद, पक्षी और चींटीपर्यन्त जीव-जन्तु इसके आश्रित होकर जीवन धारण करते हैं, उससे यह उनका भोग्य होता है। जिस प्रकार लोकमें सब अपने शरीरका अविनाश चाहते हैं, उसी प्रकार यों जाननेवालेका सब जीव अविनाश चाहते हैं। इस (हवन आदि) कर्मकी अवश्यकर्तव्यता [पञ्चमहायज्ञप्रकरणमें] ज्ञात है और [अवदानप्रकरणमें] इसकी मीमांसा की गयी है॥ १६॥

पहले एक यह आत्मा ही था। उसने कामना की कि 'मेरे स्त्री हो, फिर मैं सन्तानरूपसे उत्पन्न होऊँ तथा मेरे धन हो, फिर मैं कर्म करूँ।' बस, इतनी ही कामना है। इच्छा करनेपर इससे अधिक कोई नहीं पाता। इसीसे अब भी एकाकी पुरुष यह कामना करता है कि मेरे स्त्री हो, फिर मैं सन्तानरूपसे उत्पन्न होऊँ तथा मेरे धन हो तो फिर मैं कर्म करूँ। वह जबतक इनमेंसे एकको भी प्राप्त नहीं करता, तबतक वह अपनेको अपूर्ण ही मानता है। उसकी पूर्णता इस प्रकार होती है—मन ही इसका आत्मा है, वाणी स्त्री है, प्राण सन्तान है और नेत्र मानुष-वित्त है, क्योंकि वह नेत्रसे ही गौ आदि मानुष-वित्तको जानता है। श्रोत्र दैव-वित्त है; क्योंकि श्रोत्रसे ही वह उसे (दैव-वित्तको) सुनता है। आत्मा (शरीर) ही इसका कर्म है; क्योंकि आत्मासे ही यह कर्म करता है। यह आत्मदर्शनरूप यज्ञ पाङ्क्त है, पशु पाङ्क्त है, पुरुष पाङ्क्त है तथा यह कर्म एवं साधनरूप जो कुछ है, सब पाङ्क्त है। जो ऐसा जानता है, वह इन सभीको प्राप्त कर लेता है॥ १७॥

पञ्चम ब्राह्मण

अन्नकी उत्पत्ति और उपासना; मन, वाणी और प्राणके रूपमें सृष्टिका विभाग

पिता (प्रजापति)-ने विज्ञान और कर्मके द्वारा जिन सात अन्नोंकी रचना की, उनमेंसे इसका एक अन्न साधारण है (अर्थात् वह सभी प्राणियोंका भोग्य है); दो अन्न उसने देवताओंको बाँट दिये; तीन

अपने लिये रखे, एक पशुओंको दिया। उस (पशुओंको दिये हुए अन्न)-में जो प्राणनक्रिया करते हैं और जो नहीं करते, वे सभी प्रतिष्ठित हैं। ये अन्न सर्वदा खाये जानेपर भी क्षीण क्यों नहीं होते? जो इस (अन्नके) अक्षयभावको जानता है, वह मुखरूप प्रतीकके द्वारा अन्न भक्षण करता है। वह देवताओंको प्राप्त होता है तथा अमृतका भोक्ता होता है। इस विषयमें ये श्लोक (मन्त्र) हैं— ॥ १ ॥

'**यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पिता**' इसका यह अर्थ प्रसिद्ध है कि पिताने ज्ञान और कर्मके द्वारा ही अन्नोंको उत्पन्न किया। उसका एक अन्न साधारण है अर्थात् यह जो खाया जाता है, वही इसका साधारण अन्न है। जो इसीके परायण रहता है, वह पापसे दूर नहीं होता; क्योंकि यह अन्न मिश्र (समस्त प्राणियोंका सम्मिलित धन) है। दो अन्न उसने देवताओंको बाँटे—वे हुत और प्रहुत हैं। इसलिये गृहस्थ पुरुष देवताओंके लिये हवन और बलि अर्पण करता है। कोई ऐसा भी कहते हैं कि ये देवताओंके दो अन्न दर्श और पूर्णमास हैं; इसलिये इन्हें कामनापूर्वक न करे। एक अन्न पशुओंको दिया, वह दुग्ध है। मनुष्य और पशु पहले दुग्धके ही आश्रय जीवन धारण करते हैं, इसलिये उत्पन्न हुए बालकको पहले घृत चटाते हैं या स्तनपान कराते हैं तथा उत्पन्न हुए बछड़ेको भी अतृणाद (तृण भक्षण न करनेवाला) कहते हैं। जो प्राणनक्रिया करते हैं और जो नहीं करते, वे सब इस (पश्वन्न)-में ही प्रतिष्ठित हैं अर्थात् जो प्राणन करते हैं और जो नहीं करते, वे सब हवि दुग्धमें ही प्रतिष्ठित हैं। अतः ऐसा जो कहते हैं कि एक सालतक दुग्धसे हवन करनेवाला पुरुष अपमृत्युको जीत लेता है, सो ऐसा नहीं समझना चाहिये; क्योंकि वह जिस दिन हवन करता है, उसी दिन अपमृत्युको जीत लेता है [एक सालकी अपेक्षा नहीं करता]। इस प्रकार जाननेवाला (उपासना करनेवाला) पुरुष देवताओंको सम्पूर्ण अन्नाद्य प्रदान करता है; किंतु सर्वदा खाये जानेपर भी वे अन्न क्षीण क्यों नहीं होते? इसका कारण यह है कि पुरुष अविनाशी है, वही पुनः-पुनः इस अन्नको उत्पन्न कर देता है। जो भी इस अक्षयभावको जानता है अर्थात् पुरुष ही क्षयरहित है, वही इस अन्नको ज्ञान और कर्मद्वारा उत्पन्न कर देता है, यदि वह इसे उत्पन्न न करता तो यह क्षीण हो जाता—[ऐसा जो जानता है] वह प्रतीकके द्वारा—मुख ही प्रतीक है, अतः मुखके द्वारा अन्न भक्षण करता है। वह देवताओंको प्राप्त होता है और अमृतका भोक्ता होता है। यह (फलश्रुति) प्रशंसा है ॥ २ ॥

उसने तीन अन्न अपने लिये किये अर्थात् मन, वाणी और प्राणको उसने अपने लिये नियत किया। 'मेरा मन अन्यत्र था, इसलिये मैंने नहीं देखा; मेरा मन अन्यत्र था, इसलिये मैंने नहीं सुना' [ऐसा जो मनुष्य कहता है, इससे निश्चय होता है कि] वह मनसे ही देखता है और मनसे ही सुनता है। काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति (धारणशक्ति), अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय—ये सब मन ही हैं। इसीसे पीछेसे स्पर्श किये जानेपर मनुष्य मनसे जान लेता है। जो कुछ भी शब्द है—वह वाक् ही है; क्योंकि यह वाच्यार्थके कथनमें रत है, इसलिये प्रकाश्य नहीं, प्रकाशक है। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान और अन—ये सब प्राण ही हैं। यह आत्मा (शरीर) वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय ही है ॥ ३ ॥

तीनों लोक ये ही हैं। वाक् ही यह लोक है, मन अन्तरिक्षलोक है और प्राण वह (स्वर्ग) लोक है। तीनों वेद ये ही हैं। वाक् ही ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद है और प्राण सामवेद है। देवता, पितृगण और मनुष्य ये ही हैं। वाक् ही देवता हैं, मन पितृगण है और प्राण मनुष्य हैं। पिता, माता और सन्तान ये ही हैं। मन ही पिता है, वाक् माता है और प्राण सन्तान है। विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात ये ही हैं। जो कुछ विज्ञात है वह वाक्का रूप है। वाक् ही विज्ञाता है। वाक् इस (अपने ज्ञाता)-की विज्ञात होकर रक्षा करती है। जो कुछ जिज्ञासाके योग्य है, वह मनका रूप है। मन ही विजिज्ञास्य है। मन विजिज्ञास्य होकर इसकी रक्षा करता है। जो कुछ अविज्ञात है, वह प्राणका रूप है। प्राण ही अविज्ञात है। प्राण अविज्ञात होकर इसकी रक्षा करता है ॥ ४—१० ॥

उस वाक्का पृथिवी शरीर है और यह अग्नि

ज्योतीरूप है। इनमें जितनी वाक् है, उतनी ही पृथिवी है और उतना ही यह अग्नि है तथा इस मनका द्युलोक शरीर है, ज्योतीरूप वह आदित्य है; इनमें जितना मन है, उतना ही द्युलोक और उतना ही वह आदित्य है। वे (आदित्य और अग्नि) मिथुन (पारस्परिक संसर्ग)-को प्राप्त हुए। तब प्राण उत्पन्न हुआ। वह इन्द्र है और वह असपत्न—शत्रुहीन है; दूसरा [अर्थात् प्रतिपक्षी] ही सपत्न होता है जो ऐसा जानता है, उसका सपत्न नहीं होता तथा इस प्राणका जल शरीर है, वह चन्द्रमा ज्योतीरूप है। इनमें जितना प्राण है, उतना ही जल है और उतना ही वह चन्द्रमा है। ये सभी समान हैं और सभी अनन्त हैं। जो कोई इन्हें अन्तवान् समझकर उपासना करता है, वह अन्तवान् लोकपर जय प्राप्त करता है और जो इन्हें अनन्त समझकर उपासना करता है, वह अनन्त लोकपर जय प्राप्त करता है॥ ११—१३॥

इस संवत्सररूप प्रजापतिकी सोलह कलाएँ (अङ्ग) हैं। उसकी तिथियाँ ही पंद्रह कलाएँ हैं, इसकी सोलहवीं कला ध्रुवा (नित्य) है। वह तिथियोंके द्वारा ही [शुक्लपक्षमें] वृद्धिको प्राप्त होता है तथा [कृष्णपक्षमें] क्षीण होता है। अमावास्याकी रात्रिमें वह (चन्द्रमा) इस सोलहवीं कलासे इन सब प्राणियोंमें अनुप्रविष्ट हो फिर [दूसरे दिन] प्रातःकालमें उत्पन्न होता है। अतः इस रात्रिमें किसी प्राणीके प्राणका विच्छेद न करे, यहाँतक कि इसी देवताकी पूजाके लिये [इस रात्रिमें] गिरगिटके भी प्राण न ले॥ १४॥

जो भी यह सोलह कलाओंवाला संवत्सर प्रजापति है, यह वही है जो कि इस प्रकार जाननेवाला पुरुष है। वित्त ही उसकी पंद्रह कलाएँ हैं तथा आत्मा (शरीर) ही उसकी सोलहवीं कला है। वह वित्तसे ही बढ़ता और क्षीण होता है। यह जो आत्मा (पिण्ड) है, वह नभ्य (रथचक्रकी नाभिरूप) है और वित्त प्रधि (रथचक्रका बाहरका घेरा—नेमि) है। इसलिये यदि पुरुष सर्वस्वहरणके कारण ह्रासको प्राप्त हो जाय, किंतु शरीरसे जीवित रहे तो यही कहते कि केवल प्रधिसे ही क्षीण हुआ है॥ १५॥

अब मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक—ये ही तीन लोक हैं। वह यह मनुष्यलोक पुत्रके द्वारा ही जीता जा सकता है, किसी अन्य कर्मसे नहीं तथा पितृलोक कर्मसे और देवलोक विद्या (उपासना)-से जीते जा सकते हैं। लोकोंमें देवलोक ही श्रेष्ठ है; इसलिये विद्याकी प्रशंसा करते हैं॥ १६॥

अब सम्प्रत्ति [कही जाती है—] जब पिता यह समझता है कि मैं मरनेवाला हूँ तब वह पुत्रसे कहता है—'तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है, तू लोक है।' वह पुत्र बदलेमें कहता है—'मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं लोक हूँ।' जो कुछ भी स्वाध्याय है, उस सबकी 'ब्रह्म' यह एकता है। जो कुछ भी यज्ञ हैं, उनकी 'यज्ञ' यह एकता है और जो कुछ भी लोक हैं, उनकी 'लोक' यह एकता है। यह इतना ही गृहस्थ पुरुषका सारा कर्तव्य है। [फिर पिता यह मानने लगता है कि] यह मेरे इस भारको लेकर इस लोकसे जानेपर मेरा पालन करेगा। अतः इस प्रकार अनुशासन किये हुए पुत्रको 'लोक्य' (लोकप्राप्तिमें हितकर) कहते हैं। इसीसे पिता उसका अनुशासन करता है। इस प्रकार जाननेवाला वह पिता जब इस लोकसे जाता है, तब अपने इन्हीं प्राणोंके सहित पुत्रमें व्याप्त हो जाता है। यदि किसी कोणच्छिद्र (प्रमाद)-से उस (पिता)-के द्वारा कोई कर्तव्य नहीं किया होता है तो उस सबसे पुत्र उसे मुक्त कर देता है। इसीसे उसका नाम 'पुत्र' है। वह पिता पुत्रके द्वारा ही इस लोकमें प्रतिष्ठित होता है। फिर उसमें ये हिरण्यगर्भसम्बन्धी अमृत प्राण प्रवेश करते हैं॥ १७॥

पृथिवी और अग्निसे इसमें दैवी वाक्का आवेश होता है। दैवी वाक् वही है, जिससे पुरुष जो-जो भी बोलता है, वही-वही हो जाता है। द्युलोक और आदित्यसे इसमें दैव मनका आवेश हो जाता है। दैव मन वही है, जिससे यह सुखी ही होता है, कभी शोक नहीं करता। जल और चन्द्रमासे इसमें दैव प्राणका आवेश हो जाता है। दैव प्राण वही है, जो सञ्चार करते और सञ्चार न करते हुए भी व्यथित नहीं होता और न नष्ट ही होता है। इस प्रकार जाननेवाला वह समस्त भूतोंका आत्मा हो जाता है। जैसा यह देवता (हिरण्यगर्भ) है, वैसा ही वह हो जाता है। जिस प्रकार समस्त प्राणी इस देवताका पालन करते हैं, उसी प्रकार ऐसी उपासना

करनेवालेका समस्त भूत पालन करते हैं। जो कुछ ये जीव शोक करते हैं, वह (शोकादिजनित दुःख) उन्हींके साथ रहता है। इसे तो पुण्य ही प्राप्त होता है, क्योंकि देवताओंके पास पाप नहीं जाता॥ १८—२०॥

अब यहाँसे व्रतका विचार किया जाता है। प्रजापतिने कर्मों (कर्मके साधनभूत वागादि करणों)-की रचना की। रचे जानेपर वे एक-दूसरेसे स्पर्धा करने लगे। वाक्‌ने व्रत किया कि 'मैं बोलती ही रहूँगी' तथा 'मैं देखता ही रहूँगा' ऐसा नेत्रने और 'मैं सुनता ही रहूँगा' ऐसा श्रोत्रने व्रत किया। इसी प्रकार अपने-अपने कर्मके अनुसार अन्य इन्द्रियोंने भी व्रत किया। तब मृत्युने श्रम होकर उनसे सम्बन्ध किया और उनमें व्याप्त हो गया। उनमें व्याप्त होकर मृत्युने उनका अवरोध किया। इसीसे वाक् श्रमित होती ही है, नेत्र श्रमित होता ही है, श्रोत्र श्रमित होता ही है; किंतु यह जो मध्यम प्राण है, इसमें वह (मृत्यु) व्याप्त न हो सका। तब उन इन्द्रियोंने उसे जाननेका निश्चय किया। 'निश्चय यही हममें श्रेष्ठ है, जो सञ्चार करते और सञ्चार न करते हुए भी व्यथित नहीं होता और न क्षीण ही होता है। अच्छा, हम सब भी इसीके रूप हो जायँ'—ऐसा निश्चयकर वे सब इसीके रूप हो गयीं। अतः वे इसीके नामसे 'प्राण' इस प्रकार कही जाती हैं। इसीसे जो ऐसा जानता है, वह जिस कुलमें होता है, वह कुल उसीके नामसे बोला जाता है तथा जो ऐसे विद्वान्‌से स्पर्धा करता है, वह सूख जाता है और सूखकर अन्तमें मर जाता है। यह अध्यात्म-प्राणदर्शन है॥ २१॥

अब अधिदैवदर्शन कहा जाता है—अग्निने व्रत किया कि 'मैं जलता ही रहूँगा।' सूर्यने नियम किया, 'मैं तपता ही रहूँगा।' तथा चन्द्रमाने निश्चय किया, 'मैं प्रकाशित ही होता रहूँगा।' इसी प्रकार अन्य देवताओंने भी यथादैवत (जिस देवताका जो व्यापार था, उसीके अनुसार) व्रत किया। जिस प्रकार इन वागादि प्राणोंमें मध्यम प्राण है, उसी प्रकार इन देवताओंमें वायु है; क्योंकि अन्य देवगण तो अस्त हो जाते हैं, किंतु वायु अस्त नहीं होता। यह जो वायु है, अस्त न होनेवाला देवता है॥ २२॥

इसी अर्थका प्रतिपादक यह मन्त्र है—'जिस (वायुदेवता)-से (चक्षुरूप) सूर्य उदय होता है और जिसमें वह अस्त होता है' इत्यादि। यह प्राणसे ही उदित होता है और प्राणमें ही अस्त हो जाता है। उस धर्मको देवताओंने धारण किया है। वही आज है और वही कल भी रहेगा। देवताओंने जो व्रत उस समय धारण किया था, वही आज भी करते हैं। अतः एक ही व्रतका आचरण करे। प्राण और अपान-व्यापार करे। मुझे कहीं पापी मृत्यु व्याप्त न कर ले—इस भयसे [इस व्रतका आचरण करे] और यदि इसका आचरण करे तो इसे समाप्त करनेकी भी इच्छा रखे। इससे वह प्राणरूप इस देवतासे सायुज्य और सालोक्य प्राप्त करता है॥ २३॥

षष्ठ ब्राह्मण

नाम-रूप और कर्म

यह नाम, रूप और कर्म—तीनका समुदाय है। उन नामोंकी 'वाक्' यह उक्थ (कारण) है, क्योंकि सारे नाम इसीसे उत्पन्न होते हैं। यह इनका साम है। यही सब नामोंमें समान है। यह इनका ब्रह्म है, क्योंकि यही समस्त नामोंको धारण करती है। अब, रूपोंका चक्षु समन्वय है; यह इसका उक्थ है। इसीसे सारे रूप उत्पन्न होते हैं। यह इनका साम है; क्योंकि यह समस्त रूपोंके प्रति सम है। यह इनका ब्रह्म है; क्योंकि यही समस्त रूपोंको धारण करता है। अब, कर्मोंका समन्वय आत्मा (शरीर) है। यह इनका उक्थ है। इसीसे सब कर्म उत्पन्न होते हैं। यह इनका साम है, क्योंकि यह समस्त कर्मोंके प्रति सम है। यह इनका ब्रह्म है, क्योंकि यही समस्त कर्मोंको धारण करता है। ये तीन होते हुए भी एक आत्मा हैं और आत्मा भी एक होते हुए इन तीन रूपोंमें है। वह यह अमृत सत्यसे आच्छादित है। प्राण ही अमृत है और नाम-रूप सत्य हैं, उनसे यह प्राण आच्छादित है॥ १—३॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

ॐ

द्वितीय अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

गार्ग्य और अजातशत्रुका संवाद; अजातशत्रुका गार्ग्यको आत्माका स्वरूप समझाना

ॐ गार्ग्य-गोत्रोत्पन्न बालाकि नामक एक पुरुष बड़ा घमंडी और बहुत बोलनेवाला था। उसने काशिराज अजातशत्रुके पास जाकर कहा—'मैं तुम्हें ब्रह्मका उपदेश करूँ।' अजातशत्रुने कहा, 'इस वचनके लिये मैं आपको सहस्र [गौएँ] देता हूँ; लोग 'जनक, जनक' यों कहकर दौड़ते हैं। (अर्थात् सब लोग यही कहते हैं कि 'जनक बड़ा दानी है, जनक बड़ा श्रोता है।' ये दोनों बातें आपने अपने वचनसे मेरे लिये सुलभ कर दी हैं। इसलिये मैं आपको सहस्र गौएँ देता हूँ)'॥ १॥

गार्ग्यने कहा, 'यह जो आदित्यमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। यह सबका अतिक्रमण करके स्थित है, समस्त भूतोंका मस्तक है और राजा (दीप्तिमान्) है—इस प्रकार मैं इसकी उपासना करता हूँ। जो पुरुष इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह सबका अतिक्रमण करके स्थित, समस्त भूतोंका मस्तक और राजा होता है।' गार्ग्य बोला, 'यह जो चन्द्रमामें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। यह महान्, शुक्ल-वस्त्रधारी, सोम राजा है—इस प्रकार मैं इसकी उपासना करता हूँ। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसके लिये नित्यप्रति सोम सुत और प्रसुत होता है अर्थात् प्रकृति-विकृतिमय दोनों प्रकारके यज्ञानुष्ठानमें वह समर्थ हो जाता है तथा उसका अन्न क्षीण नहीं होता।' वह गार्ग्य बोला, 'यह जो विद्युत्में पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसकी चर्चा मत करो; इसकी तो मैं तेजस्वीरूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह तेजस्वी होता है तथा उसकी सन्तान भी तेजस्विनी होती है।' वह गार्ग्य बोला, 'यह जो आकाशमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। मैं उसकी पूर्ण और अप्रवर्तिरूपसे उपासना करता हूँ जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह सन्तान और पशुओंसे पूर्ण होता है तथा इस लोकमें उसकी सन्ततिका उच्छेद नहीं होता।' वह गार्ग्य बोला, 'यह जो वायुमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी तो मैं इन्द्र, वैकुण्ठ और अपराजिता सेना—इस रूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह विजयी, कभी न हारनेवाला और शत्रुविजेता होता है।' वह गार्ग्य बोला, 'यह जो अग्निमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसीकी तो मैं विषासहिरूपसे* उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह निश्चय सहन करनेवाला होता है और उसकी सन्तति भी सहन करनेवाली होती है।' वह गार्ग्य बोला, 'यह जो जलमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी मैं 'प्रतिरूप' रूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसके पास प्रतिरूप ही आता है, अप्रतिरूप नहीं आता और उससे प्रतिरूप [पुत्र] उत्पन्न होता है'॥ २—८॥

गार्ग्य बोला, 'यह जो दर्पणमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी तो मैं रोचिष्णु (दीप्तिमान्) रूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह निश्चय दीप्तिमान् होता है, उसकी सन्तान भी दीप्तिमान् होती है

---

* अग्निमें जो हविष्य डाला जाता है उसे वह भस्म करके सहन कर लेता है, इसलिये अग्नि विषासहि—सहन करनेवाला है।

और उसका जिनसे संगम होता है, उन सबसे बढ़कर वह दीसिमान् होता है।' वह गार्ग्य बोला, 'जानेवालेके पीछे जो यह शब्द उत्पन्न होता है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी तो मैं प्राणरूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है वह इस लोकमें पूर्ण आयु प्राप्त करता है, उसे प्राण समयसे पहले नहीं छोड़ता'॥ ९-१०॥

गार्ग्य बोला, 'यह जो दिशाओंमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो; मैं इसकी द्वितीय और वियुक्तरूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह द्वितीयवान् (साथीवाला) होता है और उससे गणका (पुत्रादि समूहका) विच्छेद नहीं होता'॥ ११॥

गार्ग्य बोला, 'यह जो छायामय पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी तो मैं मृत्युरूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह इस लोकमें पूर्ण आयु प्राप्त करता है और इसके पास समयसे पहले मृत्यु नहीं आती'॥ १२॥

गार्ग्य बोला, 'यह जो आत्मामें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं, इसके विषयमें बात मत करो; इसकी तो मैं आत्मवान्‌रूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह निश्चय आत्मवान् होता है और उसकी सन्तान भी आत्मवान् होती है।' तब वह गार्ग्य चुप हो गया॥ १३॥

[उसे मौन देखकर] वह अजातशत्रु बोला, 'बस, क्या इतना ही है?' [गार्ग्य—] 'हाँ, इतना ही है।' [अजातशत्रु—] 'इतनेसे तो ब्रह्म नहीं जाना जाता।' वह गार्ग्य बोला, 'मैं आपकी शिष्यभावसे शरण लेता हूँ'॥ १४॥

अजातशत्रुने कहा, 'ब्राह्मण क्षत्रियके प्रति, इस उद्देश्यसे कि यह मुझे ब्रह्मका उपदेश करेगा, शिष्यभावसे शरण हो—यह तो विपरीत है तो भी मैं आपको उसका ज्ञान कराऊँगा ही।' तब अजातशत्रु उसके हाथ पकड़कर उठा और वे दोनों एक सोये हुए पुरुषके पास गये। अजातशत्रुने उसे 'हे ब्रह्म! हे पाण्डरवास! हे सोम राजन्!' इन नामोंसे पुकारा। परंतु वह न उठा। तब उसे हाथसे दबा-दबाकर जगाया तो वह उठ बैठा॥ १५॥

अजातशत्रुने कहा, 'यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जब सोया हुआ था, तब कहाँ था? और यह कहाँसे आया?' किंतु गार्ग्य यह न जान सका॥ १६॥

उस अजातशत्रुने कहा, 'यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जब सोया हुआ था, उस समय यह विज्ञानके द्वारा इन इन्द्रियोंकी ज्ञानशक्तिको ग्रहणकर यह जो हृदयके भीतर आकाश है उसमें शयन करता है। जिस समय यह उन ज्ञानशक्तियोंको ग्रहण कर लेता है, उस समय इस पुरुषका 'स्वपिति' नाम होता है। उस समय घ्राणेन्द्रिय लीन रहती है, वाणी लीन रहती है, चक्षु लीन रहता है, श्रोत्र लीन रहता है और मन भी लीन रहता है। जिस समय यह आत्मा स्वप्नवृत्तिसे बर्तता है, उस समय इसके वे लोक (दृश्य) उत्पन्न होते हैं। वहाँ कभी यह महाराज होता है, कभी महाब्राह्मण होता है अथवा ऊँची-नीची [गतियों]-को प्राप्त होता है। जिस प्रकार कोई महाराज अपने प्रजाजनोंको लेकर (अधीन कर) अपने देशमें यथेच्छ विचरता है, उसी प्रकार यह प्राणोंको ग्रहणकर अपने शरीरमें यथेच्छ विचरता है। इसके पश्चात् जब वह गाढ़ निद्रामें होता है, जिस समय कि वह किसीके विषयमें कुछ भी नहीं जानता, उस समय हिता नामकी जो बहत्तर हजार नाडियाँ हृदयसे सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त होकर स्थित हैं, उनके द्वारा बुद्धिके साथ जाकर वह शरीरमें व्याप्त होकर शयन करता है। जिस प्रकार कोई बालक अथवा महाराज किंवा महाब्राह्मण आनन्दकी दुःखनाशिनी अवस्थाको प्राप्त होकर शयन करे, उसी प्रकार यह शयन करता है॥ १७—१९॥

जिस प्रकार वह ऊर्णनाभि (मकड़ा) तन्तुओंपर ऊपरकी ओर जाता है तथा जैसे अग्निसे अनेकों क्षुद्र चिनगारियाँ उड़ती हैं, उसी प्रकार इस आत्मासे समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवगण और समस्त भूत विविधरूपसे उत्पन्न होते हैं। 'सत्यका सत्य' यह उस आत्माका नाम है। प्राण ही सत्य हैं। उन्हींका यह सत्य है॥ २०॥

द्वितीय ब्राह्मण

शिशु नामसे मध्यम प्राणकी उपासना

जो कोई आधान, प्रत्याधान, स्थूणा और दाम (बन्धनरज्जु)-के सहित शिशुको जानता है, वह अपनेसे द्वेष करनेवाले सात भ्रातृव्योंका अवरोध करता है। यह जो मध्यम प्राण है, वही शिशु है; उसका यह (शरीर) ही आधान (अधिष्ठान) है, यह (सिर) ही प्रत्याधान है, प्राण स्थूणा (अन्न-पानजनित शक्ति) है और अन्न दाम है॥ १॥

उसका ये सात अक्षितियाँ (नेत्रोंके अङ्क) उपस्थान (स्तवन) करती हैं—उनमेंसे जो ये आँखमें लाल रेखाएँ हैं उनके द्वारा रुद्र इस मध्यप्राणके अनुगत है, नेत्रमें जो जल है उसके द्वारा मेघ, जो दर्शनशक्ति है उसके द्वारा आदित्य, जो कालिमा है उसके द्वारा अग्नि और जो शुक्लता है उसके द्वारा इन्द्र अनुगत है। नीचेके पलकद्वारा पृथिवी इसके अनुगत है एवं ऊपरके पलकद्वारा द्युलोक। जो इस प्रकार जानता है, उसका अन्न क्षीण नहीं होता॥ २॥

इस विषयमें यह मन्त्र है—'चमस नीचेकी ओर छिद्रवाला और ऊपरकी ओर उठा हुआ होता है, उसमें विश्वरूप यश निहित है, उसके तीरपर सात ऋषिगण (दो कान, दो नेत्र, दो नासिका और एक रसना) और वेदके द्वारा संवाद करनेवाली आठवीं वाणी रहती है। जो नीचेकी ओर छिद्रवाला और ऊपरकी ओर उठा हुआ चमस है, वह सिर है; क्योंकि यही नीचेकी ओर छिद्रवाला और ऊपरकी ओर उठा हुआ है। उसमें विश्वरूप यश निहित है—प्राण ही विश्वरूप यश हैं; प्राणोंके विषयमें ही मन्त्र ऐसा कहता है। उसके तीरपर सात ऋषि रहते हैं, प्राण ही ऋषि हैं, प्राणोंके विषयमें ही मन्त्र ऐसा कहता है। वेदके द्वारा संवाद करनेवाली वाक् आठवीं है, वही वेदके द्वारा संवाद करती है। ये दोनों [कान] ही गोतम और भरद्वाज हैं; यह ही गोतम है और यह [दूसरा] भरद्वाज है। ये दोनों [नेत्र] ही विश्वामित्र और जमदग्नि हैं; यह ही विश्वामित्र है और यह दूसरा जमदग्नि है। ये दोनों [नासारन्ध्र] ही वसिष्ठ और कश्यप हैं; यह ही वसिष्ठ है और यह दूसरा कश्यप है तथा वाक् ही अत्रि है, क्योंकि वागिन्द्रियद्वारा ही अन्न भक्षण किया जाता है। जिसे अत्रि कहते हैं, उसका निश्चय 'अत्ति' ही नाम है। जो इस प्रकार जानता है, वह सबका अत्ता (भोक्ता) होता है, सब उसका अन्न (भोग्य) हो जाता है॥ ३-४॥

तृतीय ब्राह्मण

ब्रह्मके दो रूप

ब्रह्मके दो (द्विविध) रूप हैं—मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्थित और यत् (चर) तथा सत् और त्यत्। जो वायु और अन्तरिक्षसे भिन्न है, वह मूर्त है। यह मर्त्य है, यह स्थित है और यह सत् है। उस इस मूर्तका, इस मर्त्यका, इस स्थितका, इस सत्का यह रस है, जो कि यह तपता है। यह सत्का ही रस है तथा वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त हैं; ये अमृत हैं; ये यत् हैं और ये ही त्यत् हैं। उस इस अमूर्तका, इस अमृतका, इस यत्का, इस त्यत्का यह सार है, जो कि इस मण्डलमें पुरुष है, यही इस त्यत्का सार है। यह अधिदैवत-दर्शन है। अब अध्यात्म मूर्तामूर्तका वर्णन किया जाता है। जो प्राणसे तथा यह जो देहान्तर्गत आकाश है, उससे भिन्न है, यही मूर्त है। यह मर्त्य है, यह स्थित है, यह सत् है। यह जो नेत्र है, वही इस मूर्तका, इस मर्त्यका, इस स्थितका एवं इस सत्का सार है। यह सत्का ही सार है। अब अमूर्तका वर्णन करते हैं—प्राण और इस शरीरके अन्तर्गत जो आकाश है, वे अमूर्त हैं, यह अमृत है, यह यत् है और यही त्यत् है। उस इस अमूर्तका, इस अमृतका, इस यत्का, इस त्यत्का यह रस है जो कि यह दक्षिण नेत्रान्तर्गत पुरुष है, यह त्यत्का ही रस है॥ १—५॥

उस इस पुरुषका रूप-चमत्कार ऐसा है जैसा कुसुंभेसे रँगा हुआ वस्त्र हो, जैसा सफेद ऊनी वस्त्र

हो, जैसा इन्द्रगोप (बीरबहूटी) हो, जैसी अग्निकी ज्वाला हो, जैसा श्वेत कमल हो और जैसे बिजलीकी चमक हो। जो ऐसा जानता है, उसकी श्री बिजलीकी चमकके समान [सर्वत्र एक साथ फैलनेवाली] होती है। अब इसके पश्चात् 'नेति-नेति' यह ब्रह्मका निर्देश है। 'नेति-नेति' इससे बढ़कर कोई उत्कृष्ट आदेश नहीं है। 'सत्यका सत्य' यह उसका नाम है। प्राण ही सत्य हैं, उनका यह सत्य है॥ ६॥

चतुर्थ ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद; याज्ञवल्क्यका मैत्रेयीको अमृतत्वके साधनरूपमें परमात्म-तत्त्वका उपदेश

'अरी मैत्रेयि!' ऐसा याज्ञवल्क्यने [अपनी पत्नीसे] कहा। 'मैं इस स्थान (गार्हस्थ्य-आश्रम)-से ऊपर (संन्यास-आश्रममें) जाननेवाला हूँ। अतः [तेरी अनुमति लेता हूँ और चाहता हूँ] इस (दूसरी पत्नी) कात्यायनीके साथ तेरा बँटवारा कर दूँ'॥ १॥

मैत्रेयीने कहा, 'भगवन्! यदि यह धनसे सम्पन्न सारी पृथिवी मेरी हो जाय तो क्या मैं उससे किसी प्रकार अमर हो सकती हूँ?' याज्ञवल्क्यने कहा, 'नहीं, भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न मनुष्योंका जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा भी जीवन हो जायगा। धनसे अमृतत्वकी तो आशा है ही नहीं'॥ २॥

मैत्रेयीने कहा, 'जिनसे मैं अमर नहीं हो सकती, उन भोगोंको लेकर मैं क्या करूँगी? श्रीमान् जो कुछ अमृतत्वका साधन जानते हों, वही मुझे बतलावें'॥ ३॥

याज्ञवल्क्यजीने कहा, 'धन्य! अरी मैत्रेयि! तू पहले भी मेरी प्रिया रही है और इस समय भी मुझे प्रिय लगनेवाली ही बात कह रही है। अच्छा आ, बैठ जा; मैं तेरे प्रति उस (अमरत्व)-की व्याख्या करूँगा, तू व्याख्यान किये हुए मेरे वाक्योंके अर्थका चिन्तन करना'॥ ४॥

उन्होंने कहा—'अरी मैत्रेयि! यह निश्चय है कि पतिके प्रयोजनके लिये पति प्रिय नहीं होता, आत्माके अपने ही प्रयोजनके लिये पति प्रिय होता है; स्त्रीके प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया नहीं होती, अपने ही प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया होती है; पुत्रोंके प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय होते हैं; धनके प्रयोजनके लिये धन प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये धन प्रिय होता है; ब्राह्मणके प्रयोजनके लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये ब्राह्मण प्रिय होता है; क्षत्रियके प्रयोजनके लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये क्षत्रिय प्रिय होता है; लोकोंके प्रयोजनके लिये लोक प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये लोक प्रिय होते हैं; देवताओंके प्रयोजनके लिये देवता प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये देवता प्रिय होते हैं, प्राणियोंके प्रयोजनके लिये प्राणी प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये प्राणी प्रिय होते हैं तथा सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं। अरी मैत्रेयि! यह आत्मा—अपना-आप ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जानेयोग्य है। मैत्रेयि! इस आत्माके ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञानसे इस सबका ज्ञान हो जाता है॥ ५॥

ब्राह्मणजाति उसे परास्त कर देती है, जो ब्राह्मणजातिको आत्मासे भिन्न जानता है। क्षत्रियजाति उसे परास्त कर देती है, जो क्षत्रियजातिको आत्मासे भिन्न देखता है। लोक उसे परास्त कर देते हैं, जो लोकोंको आत्मासे भिन्न देखता है। देवगण उसे परास्त कर देते हैं, जो देवताओंको आत्मासे भिन्न देखता है। भूतगण उसे परास्त कर देते हैं, जो भूतोंको आत्मासे भिन्न देखता है। सभी उसे परास्त कर देते हैं, जो सबको आत्मासे भिन्न देखता है। यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देवगण, ये भूतगण और ये सब जो कुछ भी हैं, सब आत्मा ही है॥ ६॥

इसमें दृष्टान्त ऐसा है कि जिस प्रकार बजती हुई दुन्दुभि (नक्कारे)-के बाह्य शब्दोंको कोई पकड़ नहीं सकता, किंतु दुन्दुभि या दुन्दुभिके आघातको पकड़

लेनेसे उसका शब्द भी पकड़ लिया जाता है। वह [दूसरा दृष्टान्त] ऐसा है—जैसे कोई बजाये जाते हुए शङ्खके बाह्य शब्दोंको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं होता, किंतु शङ्खके अथवा शङ्खके बजानेको ग्रहण करनेसे उस शब्दका भी ग्रहण हो जाता है। वह [तीसरा दृष्टान्त] ऐसा है—जैसे कोई बजायी जाती हुई वीणाके बाह्य शब्दोंको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं होता; किंतु वीणा या वीणाके स्वरका ग्रहण होनेपर उस शब्दका भी ग्रहण हो जाता है। वह [चौथा दृष्टान्त है—] जिस प्रकार जिसका ईंधन गीला है, ऐसे आधान किये हुए अग्निसे पृथक् धूआँ निकलता है, हे मैत्रेयि! इसी प्रकार ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस (अथर्ववेद), इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मन्त्रविवरण और अर्थवाद हैं, वे सब इस परमात्माके ही निःश्वास हैं॥ ७—१०॥

दृष्टान्त है—जिस प्रकार समस्त जलोंका समुद्र एक अयन (आश्रय-स्थान) है, इसी प्रकार समस्त स्पर्शोंका त्वचा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त गन्धोंका दोनों नासिकाएँ एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रसोंका जिह्वा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रूपोंका चक्षु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त शब्दोंका श्रोत्र एक अयन है, इसी प्रकार समस्त संकल्पोंका मन एक अयन है, इसी प्रकार समस्त विद्याओंका हृदय एक अयन है, इसी प्रकार समस्त कर्मोंका हस्त एक अयन है, इसी प्रकार समस्त आनन्दोंका उपस्थ एक अयन है और इसी प्रकार समस्त विसर्गोंका पायु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त मार्गोंका चरण एक अयन है और इसी प्रकार समस्त वेदोंका वाणी एक अयन है॥ ११॥

इसमें यह दृष्टान्त है—जिस प्रकार जलमें डाला हुआ नमकका डला जलमें ही घुल-मिल जाता है, उसे जलसे निकालनेके लिये कोई समर्थ नहीं होता तथा जहाँ-जहाँसे भी जल लिया जाय वह नमकीन ही जान पड़ता है, हे मैत्रेयि! उसी प्रकार यह परमात्मतत्त्व अनन्त, अपार और विज्ञानघन ही है। यह इन [सत्यशब्दवाच्य] भूतोंसे प्रकट होकर उन्हींके साथ अदृश्य हो जाता है; देहेन्द्रियभावसे मुक्त होनेपर इसकी कोई विशेष संज्ञा नहीं रहती। हे मैत्रेयि! ऐसा मैं तुझसे कहता हूँ—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा॥ १२॥

उस मैत्रेयीने कहा, 'शरीरपातके अनन्तर कोई संज्ञा नहीं रहती—ऐसा कहकर ही श्रीमान्‌ने मुझे मोहमें डाल दिया है।' याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे मैत्रेयि! मैं मोहका उपदेश नहीं कर रहा हूँ, अरी! यह तो उस परमात्माका विज्ञान करानेके लिये पर्याप्त है'॥ १३॥

जहाँ (अविद्यावस्थामें) द्वैत-सा होता है, वहीं अन्य अन्यको सूँघता है, अन्य अन्यको देखता है, अन्य अन्यको सुनता है, अन्य अन्यका अभिवादन करता है, अन्य अन्यका मनन करता है तथा अन्य अन्यको जानता है; किंतु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किसका अभिवादन करे, किसके द्वारा किसका मनन करे और किसके द्वारा किसे जाने? जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उसे किसके द्वारा जाने? अरी मैत्रेयि! विज्ञाताको किसके द्वारा जाने?॥ १४॥

पञ्चम ब्राह्मण

मधुविद्याका उपदेश; आत्माका विविध रूपोंमें वर्णन

यह पृथिवी समस्त भूतोंका मधु है और सब भूत इस पृथिवीके मधु हैं। इस पृथिवीमें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्मशारीर तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। ये जल समस्त भूतोंके मधु हैं और समस्त भूत इन जलोंके मधु हैं। इन जलोंमें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म रैतस तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह अग्नि समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस अग्निके मधु हैं। इस अग्निमें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म वाङ्मय तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह वायु

समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस वायुके मधु हैं। इस वायुमें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्मप्राणरूप तेजोमय अमृतमय पुरुष है यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे कहा गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह आदित्य समस्त भूतोंका मधु है तथा समस्त भूत इस आदित्यके मधु हैं। यह जो इस आदित्यमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म चाक्षुष तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे कहा गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। ये दिशाएँ समस्त भूतोंका मधु हैं तथा समस्त भूत इन दिशाओंके मधु हैं। यह जो इन दिशाओंमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म श्रोत्रसम्बन्धी प्रातिश्रुत्क (प्रत्येक श्रवणवेलामें रहनेवाला) तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह चन्द्रमा समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस चन्द्रमाके मधु हैं। यह जो इस चन्द्रमामें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म मनःसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह विद्युत् समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस विद्युत्के मधु हैं। यह जो इस विद्युत्में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म तैजस तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह मेघ समस्त भूतोंका मधु है तथा समस्त भूत इस मेघके मधु हैं। यह जो इस मेघमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म शब्द एवं स्वरसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह आकाश समस्त भूतोंका मधु है तथा समस्त भूत इस आकाशके मधु हैं। यह जो इस आकाशमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म-हृदयाकाशरूप तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह धर्म समस्त भूतोंका मधु है तथा समस्त भूत इस धर्मके मधु हैं। इस धर्ममें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म-धर्मसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे कहा गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह सत्य समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस सत्यके मधु हैं। यह जो इस सत्यमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म-सत्यसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह मनुष्यजाति समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस मनुष्यजातिके मधु हैं। यह जो इस मनुष्यजातिमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म-मानुष तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस श्रुतिद्वारा बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह आत्मा (देह) समस्त भूतोंका मधु है तथा समस्त भूत इस आत्माके मधु हैं। यह जो इस आत्मामें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे कहा गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। वह यह आत्मा समस्त भूतोंका अधिपति एवं समस्त भूतोंका राजा है। इस विषयमें दृष्टान्त—जिस प्रकार रथकी नाभि और रथकी नेमिमें सारे अरे समर्पित रहते हैं, इसी प्रकार इस परमात्मामें समस्त भूत, समस्त देव, समस्त लोक, समस्त जीवन और ये सभी आत्माएँ समर्पित हैं [सभी उस परमात्मासे जुड़े हुए और उसीके सहारे स्थित हैं।] ॥ १—१५ ॥

इस पूर्वोक्त मधुको दध्यङ्ङथर्वण ऋषिने अश्विनीकुमारोंसे कहा था। इस मधुको देखते हुए ऋषि

(मन्त्र)-ने कहा—मेघ जिस प्रकार वृष्टि करता है, उसी प्रकार हे नराकार अश्विनीकुमारो! मैं लाभके लिये किये हुए तुम दोनोंका वह उग्र दंस कर्म प्रकट किये देता हूँ, जिस मधुका दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिने तुम्हारे प्रति अश्वके सिरसे वर्णन किया था॥ १६॥

उस इस मधुका दध्यङ्ङाथर्वणने अश्विनीकुमारोंको उपदेश किया। इसे देखते हुए ऋषि (मन्त्रद्रष्टा)-ने कहा है—हे अश्विनीकुमारो! तुम दोनों आथर्वण दध्यङ्के लिये घोड़ेका सिर लाये। उसने सत्यपालन करते हुए तुम्हें त्वाष्ट्र (सूर्यसम्बन्धी) मधुका उपदेश किया तथा हे शत्रुहिंसक! जो [आत्मज्ञानसम्बन्धी] गोपनीय मधु था [वह भी तुमसे कहा]॥ १७॥

इस पूर्वोक्त मधुका दध्यङ्ङाथर्वणने अश्विनी-कुमारोंको उपदेश किया। इसे देखते हुए ऋषिने कहा—परमात्माने दो पैरोंवाले शरीर बनाये और चार पैरोंवाले शरीर बनाये। पहले वह पुरुष—परमात्मा पक्षी होकर शरीरोंमें प्रविष्ट हो गया। वह यह पुरुष समस्त पुरों (शरीरों)-में पुरिशय है। ऐसा कुछ भी नहीं है, जो परमात्मासे न ढका हो तथा ऐसा भी कुछ नहीं है, जिसमें परमात्माका प्रवेश न हुआ हो—जो उससे व्याप्त न हो॥ १८॥

इस पूर्वोक्त मधुका दध्यङ्ङाथर्वणने अश्विनीकुमारोंको उपदेश किया। यह देखते हुए ऋषिने कहा—वह रूप-रूपके प्रतिरूप हो गया। इसका वह रूप प्रतिख्यापन (प्रकट) करनेके लिये है। ईश्वर मायासे अनेकरूप प्रतीत होता है। [शरीररूप रथमें जोड़े हुए] इसके घोड़े सौ (नाड़ियाँ) और दस (इन्द्रियाँ) हैं। यह (परमेश्वर) ही हरि (इन्द्रियरूप अश्व) है; यही दस, सहस्र, अनेक और अनन्त है। वह यह ब्रह्म अपूर्व (कारणरहित), अनपर (कार्यरहित), अनन्तर (विजातीय द्रव्यसे रहित) और अबाह्य है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म है। यही समस्त वेदान्तोंका अनुशासन (उपदेश) है॥ १९॥

षष्ठ ब्राह्मण

मधुविद्याकी परम्पराका वर्णन

अब [मधुकाण्डका] वंश बतलाया जाता है—पौतिमाष्यने गौपवनसे, गौपवनने पौतिमाष्यसे, पौतिमाष्यने गौपवनसे, गौपवनने कौशिकसे, कौशिकने कौण्डिन्यसे, कौण्डिन्यने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने कौशिकसे और गौतमसे, गौतमने आग्निवेश्यसे, आग्निवेश्यने शाण्डिल्यसे और आनभिम्लातसे, आनभिम्लातने आनभिम्लातसे, आनभिम्लातने आनभिम्लातसे, आनभिम्लातने गौतमसे, गौतमने सैतव और प्राचीनयोग्यसे, सैतव और प्राचीनयोग्यने पाराशर्यसे, पाराशर्यने भारद्वाजसे, भारद्वाजने भारद्वाजसे और गौतमसे, गौतमने भारद्वाजसे, भारद्वाजने पाराशर्यसे, पाराशर्यने बैजवापायनसे, बैजवापायनने कौशिकायनिसे, कौशिकायनिने घृतकौशिकसे, घृतकौशिकने पाराशर्यायणसे, पाराशर्यायणने पाराशर्यसे, पाराशर्यने जातूकर्ण्यसे, जातूकर्ण्यने आसुरायणसे और यास्कसे, आसुरायणने त्रैवणिसे, त्रैवणिने औपजन्धनिसे, औपजन्धनिने आसुरिसे, आसुरिने भारद्वाजसे, भारद्वाजने आत्रेयसे, आत्रेयने माण्टिसे, माण्टिने गौतमसे, गौतमने गौतमसे, गौतमने वात्स्यसे, वात्स्यने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने कैशोर्य काप्यसे, कैशोर्य काप्यने कुमारहारितसे, कुमारहारितने गालवसे, गालवने विदर्भीकौण्डिन्यसे, विदर्भीकौण्डिन्यने वत्सनपात् बाभ्रवसे, वत्सनपात् बाभ्रवने पन्था सौभरसे, पन्था सौभरने अयास्य आङ्गिरससे, अयास्य आङ्गिरसने आभूति त्वाष्ट्रसे, आभूति त्वाष्ट्रने विश्वरूप त्वाष्ट्रसे, विश्वरूप त्वाष्ट्रने अश्विनीकुमारोंसे, अश्विनीकुमारोंने दध्यङ्ङाथर्वणसे, दध्यङ्ङाथर्वणने अथर्वा दैवसे, अथर्वा दैवने प्राध्वंसन-मृत्युसे, प्राध्वंसन-मृत्युने प्रध्वंसनसे, प्रध्वंसनने एकर्षिसे, एकर्षिने विप्रचित्तिसे, विप्रचित्तिने व्यष्टिसे, व्यष्टिने सनारुसे, सनारुने सनातनसे, सनातनने सनगसे, सनगने परमेष्ठीसे और परमेष्ठीने ब्रह्मासे [इसे प्राप्त किया]। ब्रह्मा स्वयम्भू—है, ब्रह्माको नमस्कार है॥ १—३॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त॥ २॥

ॐ

तृतीय अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

जनकके यज्ञमें याज्ञवल्क्य और अश्वलका संवाद

विदेहदेशमें रहनेवाले राजा जनकने एक बड़ी दक्षिणावाले यज्ञद्वारा यजन किया। उसमें कुरु और पाञ्चाल देशोंके ब्राह्मण एकत्रित हुए। उस राजा जनकको यह जाननेकी इच्छा हुई कि 'इन ब्राह्मणोंमें अनुवचन (प्रवचन) करनेमें सबसे बढ़कर कौन है?' इसलिये उसने एक सहस्र गौएँ गोशालामें रोक लीं। उनमेंसे प्रत्येकके सींगोंमें दस-दस पाद सुवर्ण बँधे हुए थे॥ १॥

उसने उनसे कहा—'पूज्य ब्राह्मणगण! आपमें जो ब्रह्मनिष्ठ हो, वह इन गौओंको ले जाय।' किंतु उन ब्राह्मणोंका साहस न हुआ। तब याज्ञवल्क्यने अपने ही ब्रह्मचारीसे कहा, 'हे सोम्य सामश्रवा! तू इन्हें ले जा।' तब वह उन्हें ले चला। इससे वे ब्राह्मण 'यह हम सबमें अपनेको ब्रह्मनिष्ठ कैसे कहता है' इस प्रकार कहते हुए क्रुद्ध हो गये। विदेहराज जनकका होता अश्वल था, उसने याज्ञवल्क्यसे पूछा, 'याज्ञवल्क्य! हम सबमें क्या तुम ही ब्रह्मनिष्ठ हो?' उसने कहा, 'ब्रह्मनिष्ठको तो हम नमस्कार करते हैं, हम तो गौओंकी ही इच्छावाले हैं।' इसीसे होता अश्वलने उससे प्रश्न करनेका निश्चय किया॥ २॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वलने कहा, 'यह सब जो मृत्युसे व्याप्त है, मृत्युद्वारा स्वाधीन किया हुआ है, उस मृत्युकी व्याप्तिका यजमान किस साधनसे अतिक्रमण करता है?' [इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'वह यजमान होता ऋत्विक्‌रूप अग्निसे और वाक्‌से उसका अतिक्रमण कर सकता है। वाक् ही यज्ञका होता है; यह जो वाक् है, वही यह अग्नि है; वह होता है, वह मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है'॥ ३॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वलने कहा, 'यह जो कुछ है, सब दिन और रात्रिसे व्याप्त है, सब दिन और रात्रिके अधीन है। तब किस साधनके द्वारा यजमान दिन और रात्रिकी व्याप्तिका अतिक्रमण कर सकता है?' [इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'अध्वर्यु ऋत्विक् और चक्षुरूप आदित्यके द्वारा। अध्वर्यु यज्ञका चक्षु ही है। अतः यह जो चक्षु है, वह यह आदित्य है और वह अध्वर्यु है, वह मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है'॥ ४॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वलने कहा, 'यह जो कुछ है, सब पूर्वपक्ष और अपरपक्षसे व्याप्त है; सब पूर्वपक्ष और अपरपक्षद्वारा वशमें किया हुआ है। किस उपायसे यजमान पूर्वपक्ष और अपरपक्षकी व्याप्तिसे पार होकर मुक्त होता है?' [इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'उद्गाता-ऋत्विक्‌से और वायुरूप प्राणसे; क्योंकि उद्गाता यज्ञका प्राण ही है तथा यह जो प्राण है, वही वायु है, वही उद्गाता है, वही मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है'॥ ५॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वलने कहा, 'यह जो अन्तरिक्ष है, वह निरालम्ब-सा है। अतः यजमान किस आलम्बनसे स्वर्गलोकमें चढ़ता है?' [इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'ब्रह्मा-ऋत्विज्‌के द्वारा और मनरूप चन्द्रमासे। ब्रह्मा यज्ञका मन ही है और यह जो मन है; वही यह चन्द्रमा है, वह ब्रह्मा है, वह मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है।' इस प्रकार अतिमोक्षोंका वर्णन हुआ, अब सम्पदोंका निरूपण किया जाता है॥ ६॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वलने कहा, 'आज कितनी ऋचाओंके द्वारा होता इस यज्ञमें शस्त्र-शंसन करेगा?' [याज्ञवल्क्यने कहा—] 'तीनके द्वारा।' [अश्वल—] 'वे तीन कौन-सी हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'पुरोनुवाक्या, याज्या और तीसरी शस्या।' [अश्वल—] 'इनसे यजमान किसको जीतता है?' [याज्ञवल्क्य—] 'यह जितना भी प्राणिसमुदाय है [उस सबको जीत लेता है]'॥ ७॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वलने कहा, 'आज इस यज्ञमें यह अध्वर्यु कितनी आहुतियाँ होम करेगा?' [याज्ञवल्क्य—] 'तीन।' [अश्वल—] 'वे तीन कौन-कौन-सी हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'जो होम की जानेपर प्रज्वलित होती हैं, जो होम की जानेपर अत्यन्त शब्द करती हैं और जो होम की जानेपर पृथ्वीके ऊपर लीन हो जाती हैं।' [अश्वल—] 'इनके द्वारा यजमान किसको जीतता है?' [याज्ञवल्क्य—] 'जो होम की जानेपर प्रज्वलित होती हैं, उनसे यजमान देवलोकको

ही जीत लेता है, क्योंकि देवलोक मानो देदीप्यमान हो रहा है। जो होम की जानेपर अत्यन्त शब्द करती हैं, उनसे वह पितृलोकको ही जीत लेता है; क्योंकि पितृलोक मानो अत्यन्त शब्द करनेवाला है। जो होम की जानेपर पृथ्वीपर लीन हो जाती हैं, उनसे मनुष्यलोकको ही जीतता है; क्योंकि मनुष्यलोक अधोवर्ती-सा है'॥ ८॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वलने कहा, 'आज यह ब्रह्मा यज्ञमें दक्षिणकी ओर बैठकर कितने देवताओंद्वारा यज्ञकी रक्षा करता है?' [याज्ञवल्क्य—] 'एकके द्वारा।' [अश्वल—] 'वह एक देवता कौन है?' [याज्ञवल्क्य—] 'वह मन ही है। मन अनन्त है और विश्वेदेव भी अनन्त हैं; अतः उस मनसे यजमान अनन्त लोकको जीत लेता है'॥ ९॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वलने कहा, 'आज इस यज्ञमें उद्गाता कितनी स्तोत्रिया ऋचाओंका स्तवन करेगा?' [याज्ञवल्क्य—] 'तीनका।' [अश्वल—] 'वे तीन कौन-सी हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'पुरोनुवाक्या, याज्या और तीसरी शस्या।' [अश्वल—] 'इनमें जो शरीरान्तर्वर्ती हैं, वे कौन-सी हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'प्राण ही पुरोनुवाक्या है; अपान याज्या है और व्यान शस्या है।' [अश्वल—] 'इनसे यजमान किनपर जय प्राप्त करता है?' [याज्ञवल्क्य—] 'पुरोनुवाक्यासे पृथिवीलोकपर ही जय प्राप्त करता है तथा याज्यासे अन्तरिक्षलोकपर और शस्यासे द्युलोकपर विजय प्राप्त करता है।' इसके पश्चात् होता अश्वल चुप हो गया॥ १०॥

द्वितीय ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य और आर्तभागका संवाद

फिर उस (याज्ञवल्क्य]-से जारत्कारव आर्तभागने पूछा; वह बोला, 'याज्ञवल्क्य! ग्रह कितने हैं और अतिग्रह कितने हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं।' [आर्तभाग—] 'वे जो आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं, वे कौन-से हैं?'॥ १॥

प्राण ही ग्रह है, वह अपानरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी अपानसे ही गन्धोंको सूँघता है। वाक् ही ग्रह है, वह नामरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी वाक्से ही नामोंका उच्चारण करता है। जिह्वा ही ग्रह है, वह रसरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी जिह्वासे ही रसोंको विशेषरूपसे जानता है। चक्षु ही ग्रह है, वह रूप-रूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी चक्षुसे ही रूपोंको देखता है। श्रोत्र ही ग्रह है, वह शब्दरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी श्रोत्रसे ही शब्दोंको सुनता है। मन ही ग्रह है, वह कामरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी मनसे ही कामोंकी कामना करता है। हस्त ही ग्रह हैं, वे कर्मरूप अतिग्रहसे गृहीत हैं; क्योंकि प्राणी हस्तसे ही कर्म करता है। त्वचा ही ग्रह है, वह स्पर्शरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी त्वचासे ही स्पर्शोंको जानता है। इस प्रकार ये आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं॥ २—९॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा आर्तभागने कहा, 'यह जो कुछ है सब मृत्युका खाद्य है; सो वह देवता कौन है, जिसका खाद्य मृत्यु है?' [इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'अग्नि ही मृत्यु है, वह जलका खाद्य है। [इस प्रकारके ज्ञानसे] पुनर्मृत्युका पराजय होता है'॥ १०॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा आर्तभागने कहा, 'जिस समय यह मनुष्य मरता है, उस समय इसके प्राणोंका उत्क्रमण होता है या नहीं?' 'नहीं, नहीं' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'वे यहाँ ही लीन हो जाते हैं। वह फूल जाता है अर्थात् वायुको भीतर खींचता है और वायुसे पूर्ण हुआ ही मृत होकर पड़ा रहता है'॥ ११॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा आर्तभागने कहा, 'जिस समय यह पुरुष मरता है, उस समय इसे क्या नहीं छोड़ता?' [याज्ञवल्क्य—] 'नाम नहीं छोड़ता, नाम अनन्त ही हैं, विश्वेदेव भी अनन्त ही हैं; इस आनन्त्यदर्शनके द्वारा वह अनन्त लोकको ही जीत लेता है'॥ १२॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा आर्तभागने कहा, 'जिस समय इस मृतपुरुषकी वाणी अग्निमें लीन हो जाती है तथा प्राण वायुमें, चक्षु आदित्यमें, मन चन्द्रमामें, श्रोत्र दिशामें, शरीर पृथिवीमें, हृदयाकाश भूताकाशमें, रोम ओषधियोंमें और केश वनस्पतियोंमें लीन हो जाते हैं तथा रक्त और वीर्य जलमें स्थापित हो जाते हैं, उस समय यह पुरुष कहाँ रहता है?' [याज्ञवल्क्य—]

'प्रियदर्शन आर्तभाग! तू मुझे अपना हाथ पकड़ा, हम दोनों ही इस प्रश्नका उत्तर जानेंगे; यह प्रश्न जनसमुदायमें होनेयोग्य नहीं है।' तब उन दोनोंने उठकर [एकान्तमें] विचार किया। उन्होंने जो कुछ कहा, वह कर्म ही कहा तथा जिसकी प्रशंसा की, वह कर्मकी ही प्रशंसा की। वह यह कि पुरुष पुण्यकर्मसे पुण्यवान् होता है और पापकर्मसे पापी होता है। इसके पीछे जारत्कारव आर्तभाग चुप हो गया॥ १३॥

तृतीय ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य और लाह्यायनि भुज्युका संवाद

फिर इस याज्ञवल्क्यसे लाह्यायनि भुज्युने पूछा; वह बोला, 'याज्ञवल्क्य! हम व्रताचरण करते हुए मद्रदेशमें विचर रहे थे कि कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चलके घर पहुँचे। उसकी पुत्री गन्धर्वसे गृहीत थी। (अर्थात् उसपर गन्धर्वका आवेश था) हमने उससे पूछा, 'तू कौन है?' वह बोला, 'आङ्गिरस सुधन्वा हूँ।' जब उससे लोकोंके अन्तके विषयमें पूछा तो हमने उससे यों कहा, 'पारिक्षित कहाँ रहे? पारिक्षित कहाँ रहे?' सो हम तुमसे पूछते हैं कि 'पारिक्षित कहाँ रहे?'॥ १॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'उस गन्धर्वने निश्चय यह कहा था कि वे वहाँ चले गये, जहाँ अश्वमेध यज्ञ करनेवाले जाते हैं।' [भुज्यु—] 'अच्छा तो अश्वमेधयाजी कहाँ जाते हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'यह लोक बत्तीस देवरथाह्न्य* है। उसे चारों ओरसे दूनी पृथिवी घेरे हुए है। उस पृथिवीको सब ओरसे दूना समुद्र घेरे हुए है। सो जितनी पतली छुरेकी धार होती है अथवा जितना सूक्ष्म मक्खीका पंख होता है, उतना उन अण्डकपालोंके मध्यमें आकाश है। इन्द्र (चित्य अग्नि)-ने पक्षी होकर उन पारिक्षितोंको वायुको दिया। उन्हें वायु अपने स्वरूपमें स्थापितकर वहाँ ले गया, जहाँ अश्वमेधयाजी रहते हैं; इस प्रकार उस गन्धर्वने वायुकी ही प्रशंसा की थी। अतः वायु ही व्यष्टि है और वायु ही समष्टि है। जो ऐसा जानता है, वह पुनर्मृत्युको जीत लेता है।' तब लाह्यायनि भुज्यु चुप हो गया॥ २॥

चतुर्थ ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य और चाक्रायण उषस्तका संवाद

फिर उस याज्ञवल्क्यसे चाक्रायण उषस्तने पूछा; वह बोला, 'याज्ञवल्क्य! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी मेरे प्रति व्याख्या करो।' [याज्ञवल्क्य—] 'यह तेरा आत्मा ही सर्वान्तर है।' [उषस्त—] 'याज्ञवल्क्य! वह सर्वान्तर कौन-सा है?' [याज्ञवल्क्य—] 'जो प्राणसे प्राणक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है; जो अपानसे अपानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है; जो व्यानसे व्यानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है; जो उदानसे उदानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है। यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है'॥ १॥

उस चाक्रायण उषस्तने कहा, 'जिस प्रकार कोई [चलना और दौड़ना दिखाकर] कहे कि यह (चलनेवाला) बैल है, यह (दौड़नेवाला) घोड़ा है, उसी प्रकार तुम्हारा यह कथन है; अतः जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसे तुम स्पष्टतया बतलाओ।' [याज्ञवल्क्य—] 'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है। [उषस्त—] 'हे याज्ञवल्क्य! वह सर्वान्तर कौन-सा है?' [याज्ञवल्क्य—] 'तुम दृष्टिके द्रष्टाको नहीं देख सकते, श्रुतिके श्रोताको नहीं सुन सकते, मतिके मन्ताका मनन नहीं कर सकते, विज्ञातिके विज्ञाताको नहीं जान सकते। तुम्हारा यह आत्मा सर्वान्तर है, इससे भिन्न आर्त (नाशवान्) है।' इसके पश्चात् चाक्रायण उषस्त चुप हो गया॥ २॥

* सूर्यके रथकी गतिसे एक दिनमें संसारका जितना भाग नापा जाय उसे 'देवरथाह्न्य' कहते हैं।

पञ्चम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य और कहोलका संवाद; ब्रह्म और आत्माकी व्याख्या

फिर इस याज्ञवल्क्यसे कौषीतकेय कहोलने पूछा; उसने 'याज्ञवल्क्य!' इस प्रकार सम्बोधित करके कहा—'जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी तुम मेरे प्रति व्याख्या करो।' [यह सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'यह तुम्हारा आत्मा सर्वान्तर है।' [कहोल—] 'याज्ञवल्क्य! वह सर्वान्तर कौन-सा है?' [याज्ञवल्क्य—] 'जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्युसे परे है, उस पूर्वोक्त आत्माको ही जानकर ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे अलग हटकर भिक्षाचर्यासे विचरते हैं। जो भी पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है और जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है। ये दोनों ही [साध्य—साधनेच्छाएँ] एषणाएँ ही हैं। अतः ब्राह्मण पाण्डित्य (आत्मज्ञान)-का पूर्णतया सम्पादन करके आत्मज्ञानरूप बलसे स्थित रहनेकी इच्छा करे। फिर बाल्य और पाण्डित्यको पूर्णतया प्राप्तकर वह मुनि होता है तथा अमौन और मौनका पूर्णतया सम्पादन करके ब्राह्मण (कृतकृत्य) होता है। वह किस प्रकार ब्राह्मण होता है? जिस प्रकार भी हो, ऐसा ही ब्राह्मण होता है; इससे भिन्न और सब आर्त (नाशवान्) है।' तब कौषीतकेय कहोल चुप हो गया॥ १॥

षष्ठ ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य और गार्गीका संवाद

फिर इस याज्ञवल्क्यसे वचक्नुकी पुत्री गार्गीने पूछा; वह बोली, 'याज्ञवल्क्य! यह जो कुछ है, सब जलमें ओतप्रोत है; किंतु वह जल किसमें ओतप्रोत है?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि! वायुमें।' [गार्गी—] 'वायु किसमें ओतप्रोत है?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि! अन्तरिक्षलोकोंमें।' [गार्गी—] 'अन्तरिक्षलोक किसमें ओतप्रोत हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि! गन्धर्वलोकोंमें।' [गार्गी—] 'गन्धर्वलोक किसमें ओतप्रोत हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि! आदित्यलोकोंमें।' [गार्गी—] 'आदित्यलोक किसमें ओतप्रोत हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि! चन्द्रलोकोंमें।' [गार्गी—] 'चन्द्रलोक किसमें ओतप्रोत हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि! नक्षत्रलोकोंमें।' [गार्गी—] 'नक्षत्रलोक किसमें ओतप्रोत हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि! देवलोकोंमें।' [गार्गी—] 'देवलोक किसमें ओतप्रोत हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि! इन्द्रलोकोंमें।' [गार्गी—] 'इन्द्रलोक किसमें ओतप्रोत हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि! प्रजापतिलोकोंमें।' [गार्गी—] 'प्रजापतिलोक किसमें ओतप्रोत हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि! ब्रह्मलोकोंमें।' [गार्गी—] 'ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत हैं?' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—'हे गार्गि! अतिप्रश्न मत कर। तेरा मस्तक न गिर जाय! तू, जिसके विषयमें अतिप्रश्न नहीं करना चाहिये, उस देवताके विषयमें अतिप्रश्न कर रही है। हे गार्गि! तू अतिप्रश्न न कर।' तब वचक्नुकी पुत्री गार्गी उपरत हो गयी॥ १॥

सप्तम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य तथा आरुणि उद्दालकका संवाद; आत्माके स्वरूपका वर्णन

फिर इस याज्ञवल्क्यसे आरुणि उद्दालकने पूछा; वह बोला, 'याज्ञवल्क्य! हम मद्रदेशमें यज्ञशास्त्रका अध्ययन करते हुए कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चलके घर रहते थे। उसकी भार्या गन्धर्वद्वारा गृहीत थी। हमने उस (गन्धर्व]-से पूछा, 'तू कौन है?' उसने कहा, 'मैं आथर्वण कबन्ध हूँ।' उसने कपिगोत्रीय पतञ्चल और उसके याज्ञिकोंसे पूछा, 'काप्य! क्या तुम उस सूत्रको जानते हो, जिसके द्वारा यह लोक, परलोक और सारे भूत ग्रथित हैं?' तब उस काप्य पतञ्चलने कहा, 'भगवन्! मैं उसे नहीं जानता।' उसने पतञ्चल काप्य और याज्ञिकोंसे कहा, 'काप्य! क्या तुम उस अन्तर्यामीको जानते हो जो इस लोक, परलोक और समस्त भूतोंको भीतरसे नियमित करता है?' उस पतञ्चल काप्यने कहा, 'भगवन्! मैं उसे नहीं जानता।' उसने पतञ्चल काप्य और याज्ञिकोंसे कहा, 'काप्य! जो

कोई उस सूत्र और उस अन्तर्यामीको जानता है, वह ब्रह्मवेत्ता है, वह लोकवेत्ता है, वह देववेत्ता है, वह वेदवेत्ता है, वह भूतवेत्ता है, वह आत्मवेत्ता है और वह सर्ववेत्ता है।' तथा इसके पश्चात् गन्धर्वने उन (काप्य आदि)-से सूत्र और अन्तर्यामीको बताया। उसे मैं जानता हूँ। हे याज्ञवल्क्य! यदि उस सूत्र और अन्तर्यामीको न जाननेवाले होकर ब्रह्मवेत्ताकी स्वभूत गौओंको ले जाओगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा।' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गौतम! मैं उस सूत्र और अन्तर्यामीको जानता हूँ।' [उद्दालक—] 'ऐसा तो जो कोई भी कह सकता है—'मैं जानता हूँ, मैं जानता हूँ' [किंतु यों व्यर्थ ढोल पीटनेसे क्या लाभ? यदि वास्तवमें तुम्हें उसका ज्ञान है तो] जिस प्रकार तुम जानते हो वह कहो'॥ १॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'गौतम! वायु ही वह सूत्र है; गौतम! वायुरूप सूत्रके द्वारा ही यह लोक, परलोक और समस्त भूतसमुदाय गुथे हुए हैं। हे गौतम! इसीसे मरे हुए पुरुषको ऐसा कहते हैं कि इसके अङ्ग विस्रस्त (विशीर्ण) हो गये हैं; क्योंकि हे गौतम! वे वायुरूप सूत्रसे ही संग्रथित होते हैं।' [आरुणि—] 'हे याज्ञवल्क्य! ठीक है, यह तो ऐसा ही है; अब तुम अन्तर्यामीका वर्णन करो'॥ २॥

जो पृथिवीमें रहनेवाला पृथिवीके भीतर है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है और जो भीतर रहकर पृथिवीका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो जलमें रहनेवाला जलके भीतर है, जिसे जल नहीं जानता, जल जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर जलका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो अग्निमें रहनेवाला अग्निके भीतर है, जिसे अग्नि नहीं जानता, अग्नि जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर अग्निका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो अन्तरिक्षमें रहनेवाला अन्तरिक्षके भीतर है, जिसे अन्तरिक्ष नहीं जानता, अन्तरिक्ष जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर अन्तरिक्षका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो वायुमें रहनेवाला वायुके भीतर है, जिसे वायु नहीं जानता, वायु जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वायुका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो द्युलोकमें रहनेवाला द्युलोकके भीतर है, जिसे द्युलोक नहीं जानता, द्युलोक जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर द्युलोकका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो आदित्यमें रहनेवाला आदित्यके भीतर है, जिसे आदित्य नहीं जानता, आदित्य जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर आदित्यका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो दिशाओंमें रहनेवाला दिशाओंके भीतर है, जिसे दिशाएँ नहीं जानतीं, दिशाएँ जिसका शरीर हैं और जो भीतर रहकर दिशाओंका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो चन्द्रमा और ताराओंमें रहनेवाला चन्द्रमा और ताराओंके भीतर है, जिसे चन्द्रमा और ताराएँ नहीं जानतीं, चन्द्रमा और ताराएँ जिसका शरीर हैं और जो भीतर रहकर चन्द्रमा और ताराओंका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो आकाशमें रहनेवाला आकाशके भीतर है, जिसे आकाश नहीं जानता, आकाश जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर आकाशका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो तममें रहनेवाला तमके भीतर है, जिसे तम नहीं जानता, तम जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर तमका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो तेजमें रहनेवाला तेजके भीतर है, जिसे तेज नहीं जानता, तेज जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर तेजका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह अधिदैवतदर्शन हुआ, आगे अधिभूतदर्शन है॥ ३—१४॥

जो समस्त भूतोंमें स्थित रहनेवाला समस्त भूतोंके भीतर है, जिसे समस्त भूत नहीं जानते, समस्त भूत जिसके शरीर हैं और जो भीतर रहकर समस्त भूतोंका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह अधिभूतदर्शन है, अब अध्यात्मदर्शन कहा जाता है। जो प्राणमें रहनेवाला प्राणके भीतर है, जिसे प्राण नहीं जानता, प्राण जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर प्राणका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो वाणीमें रहनेवाला वाणीके भीतर है, जिसे वाणी नहीं जानती, वाणी जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वाणीका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो नेत्रमें रहनेवाला नेत्रके भीतर है, जिसे नेत्र नहीं जानता, नेत्र जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर नेत्रका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी

अमृत है। जो श्रोत्रमें रहनेवाला श्रोत्रके भीतर है, जिसे श्रोत्र नहीं जानता, श्रोत्र जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर श्रोत्रका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो मनमें रहनेवाला मनके भीतर है, जिसे मन नहीं जानता, मन जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर मनका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो त्वक्में रहनेवाला त्वक्के भीतर है, जिसे त्वक् नहीं जानती, त्वक् जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर त्वक्का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो विज्ञानमें रहनेवाला विज्ञानके भीतर है, जिसे विज्ञान नहीं जानता, विज्ञान जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर विज्ञानका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो वीर्यमें रहनेवाला वीर्यके भीतर है, जिसे वीर्य नहीं जानता, वीर्य जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वीर्यका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। वह दिखायी न देनेवाला किंतु देखनेवाला है, सुनायी न देनेवाला है किंतु सुननेवाला है, मननका विषय न होनेवाला किंतु मनन करनेवाला है और विशेषतया ज्ञात न होनेवाला किंतु विशेष-रूपसे जाननेवाला है; वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इससे भिन्न सब नाशवान् है। इसके पश्चात् अरुणका पुत्र उद्दालक प्रश्न करनेसे निवृत्त हो गया॥ १५—२३॥

~~~O~~~

अष्टम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-गार्गीका संवाद; अक्षरके नामसे आत्मस्वरूपका वर्णन

फिर वाचक्नवीने कहा, 'पूजनीय ब्राह्मणगण! अब मैं इनसे दो प्रश्न पूछूँगी यदि ये मेरे उन प्रश्नोंका उत्तर दे देंगे तो फिर आपमेंसे कोई भी इन्हें ब्रह्मसम्बन्धी वादमें नहीं जीत सकेगा।' [ब्राह्मण—] 'अच्छा गार्गि! पूछ'॥ १॥

वह बोली, 'याज्ञवल्क्य! जिस प्रकार काशी या विदेहका रहनेवाला कोई वीर-वंशज पुरुष प्रत्यञ्चाहीन धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर शत्रुओंको अत्यन्त पीड़ा देनेवाले दो फलवाले शर हाथमें लेकर खड़ा होता है, उसी प्रकार मैं दो प्रश्न लेकर तुम्हारे सामने उपस्थित होती हूँ; तुम मुझे उनका उत्तर दो।' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा, 'गार्गि! पूछ'॥ २॥

वह बोली, 'याज्ञवल्क्य! जो द्युलोकसे ऊपर है, जो पृथिवीसे नीचे है और जो द्युलोक और पृथिवीके मध्यमें है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य—इस प्रकार कहते हैं, वे किसमें ओतप्रोत हैं?'॥ ३॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'गार्गि! जो द्युलोकसे ऊपर, पृथिवीसे नीचे और जो द्युलोक एवं पृथिवीके मध्यमें है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान एवं भविष्य—इस प्रकार कहते हैं, वे सब आकाशमें ओतप्रोत हैं'॥ ४॥

वह बोली, 'याज्ञवल्क्य! आपको नमस्कार है, जिन्होंने मुझे इस प्रश्नका उत्तर दे दिया; अब आप दूसरे प्रश्नके लिये तैयार हो जाइये।' [याज्ञवल्क्य—] 'गार्गि! पूछ'॥ ५॥

वह बोली, 'याज्ञवल्क्य! जो द्युलोकसे ऊपर है, जो पृथिवीसे नीचे है और जो द्युलोक और पृथिवीके मध्यमें है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य—इस प्रकार कहते हैं, वे किसमें ओतप्रोत हैं?'॥ ६॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'गार्गि! जो द्युलोकसे ऊपर, पृथिवीसे नीचे और द्युलोक एवं पृथिवीके मध्यमें है तथा स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं और जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य—इस प्रकार कहते हैं, वे सब आकाशमें ही ओतप्रोत हैं।' [गार्गी—] 'किंतु आकाश किसमें ओतप्रोत है?'॥ ७॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'गार्गि! उस इस तत्त्वको तो ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं; वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न द्रव है, न छाया है, न तम (अन्धकार) है, न वायु है, न आकाश है, न संगवान् है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, उसमें न भीतर है, न बाहर है; वह कुछ भी नहीं खाता, उसे कोई भी नहीं खाता'॥ ८॥

'गार्गि! इस अक्षरके ही प्रशासनमें सूर्य और चन्द्रमा विशेषरूपसे धारण किये हुए स्थित रहते हैं। हे गार्गि! इस अक्षरके ही प्रशासनमें द्युलोक और पृथिवी विशेषरूपसे धारण किये हुए स्थित रहते हैं। हे गार्गि! इस अक्षरके ही प्रशासनमें निमेष, मुहूर्त्त, दिन-रात,
~~~

अर्धमास (पक्ष), मास, ऋतु और संवत्सर विशेषरूपसे धारण किये हुए स्थित रहते हैं। हे गार्गि! इस अक्षरके ही प्रशासनमें पूर्ववाहिनी एवं अन्य नदियाँ श्वेत पर्वतोंसे बहती हैं तथा अन्य पश्चिमवाहिनी नदियाँ जिस-जिस दिशाको बहने लगती हैं, उसीका अनुसरण करती रहती हैं। हे गार्गि! इस अक्षरके ही प्रशासनमें मनुष्य दाताकी प्रशंसा करते हैं तथा देवगण यजमानका और पितृगण दर्वीहोमका अनुवर्तन करते हैं। गार्गि! जो कोई इस लोकमें इस अक्षरको न जानकर हवन करता, यज्ञ करता और अनेकों सहस्र वर्षपर्यन्त तप करता है, उसका वह सब कर्म अन्तवाला ही होता है। जो कोई भी इस अक्षरको बिना जाने इस लोकसे मरकर जाता है, वह कृपण (दीन) है और हे गार्गि! जो इस अक्षरको जानकर इस लोकसे मरकर जाता है, वह ब्राह्मण है। हे गार्गि! यह अक्षर स्वयं दृष्टिका विषय नहीं, किंतु द्रष्टा है; श्रवणका विषय नहीं, किंतु श्रोता है; मननका विषय नहीं, किंतु मन्ता है; स्वयं अविज्ञात रहकर दूसरोंका विज्ञाता है। इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं है और इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है। हे गार्गि! निश्चय इस अक्षरमें ही आकाश ओतप्रोत है'॥ ९—११॥

उस गार्गीने कहा, 'पूज्य ब्राह्मणगण! आपलोग इसीको बहुत मानें कि इन याज्ञवल्क्यजीसे आपको नमस्कारद्वारा ही छुटकारा मिल जाय। आपमेंसे कोई भी कभी इन्हें ब्रह्मविषयक वादमें जीतनेवाला नहीं है।' तदनन्तर वचक्नुकी पुत्री गार्गी चुप हो गयी॥ १२॥

नवम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-शाकल्यका संवाद और याज्ञवल्क्यकी विजय

इसके पश्चात् इस याज्ञवल्क्यसे शाकल्य विदग्धने पूछा, 'याज्ञवल्क्य! कितने देवगण हैं?' तब याज्ञवल्क्यने इस आगे कही जानेवाली निविद्से ही उनकी संख्याका प्रतिपादन किया। 'वैश्वदेवकी निविद्में अर्थात् देवताओंकी संख्या बतानेवाले मन्त्रपदोंमें जितने बतलाये गये हैं, वे तीन और तीन सौ तथा तीन और तीन सहस्र (तीन हजार तीन सौ छः) हैं।' [तब शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा। फिर पूछा, 'याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं?' याज्ञवल्क्यने कहा, 'तैंतीस'। [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और पूछा 'तो, याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'छः'। [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और फिर पूछा, 'याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'तीन।' [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और पुनः पूछा, 'याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'दो।' [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और पूछा, 'याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'डेढ़।' [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और पूछा, 'याज्ञवल्क्य! कितने देव हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'एक।' [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और पूछा 'वे तीन और तीन सौ तथा तीन और तीन सहस्र देव कौन-से हैं?'

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'ये तो इनकी महिमाएँ ही हैं। देवगण तो तैंतीस ही हैं।' [शाकल्य—] 'वे तैंतीस देव कौन-से हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य—ये इकतीस देवगण हैं तथा इन्द्र और प्रजापतिके सहित तैंतीस हैं'॥ २॥

[शाकल्य—] 'वसु कौन हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्र—ये वसु हैं; इन्हींमें यह सब जगत् निहित है, इसीसे ये वसु हैं'॥ ३॥

[शाकल्य—] 'रुद्र कौन हैं' [याज्ञवल्क्य—] 'पुरुषमें ये दस प्राण [इन्द्रियाँ] और ग्यारहवाँ आत्मा [मन]। ये जिस समय इस मरणशील शरीरसे उत्क्रमण करते हैं, उस समय रुलाते हैं; अतः उत्क्रमणकालमें अपने सम्बन्धियोंको रुलाते हैं; इसलिये रोदनके कारण होनेसे 'रुद्र' कहलाते हैं'॥ ४॥

[शाकल्य—] 'आदित्य कौन हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'संवत्सरके अवयवभूत ये बारह मास ही आदित्य हैं; क्योंकि ये इस सबका आदान (ग्रहण) करते हुए चलते हैं, इसलिये आदित्य हैं'॥ ५॥

[शाकल्य—] 'इन्द्र कौन है और प्रजापति कौन है?' [याज्ञवल्क्य—] 'स्तनयित्नु (विद्युत्) ही इन्द्र है

और यज्ञ प्रजापति है।' [शाकल्य—] 'स्तनयित्नु कौन है?' [याज्ञवल्क्य—] 'वज्र।' [शाकल्य—] 'यज्ञ कौन है?' [याज्ञवल्क्य—] 'पशुगण'॥ ६॥

[शाकल्य—] 'छः देवगण कौन हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्युलोक—ये छः देवगण हैं। ये वसु आदि तैंतीस देवताओंके रूपमें अग्नि आदि छः ही हैं'॥ ७॥

[शाकल्य—] 'वे तीन देव कौन हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'ये तीन लोक ही तीन देव हैं। इन्हींमें ये सब देव अन्तर्भूत हैं।' [शाकल्य—] 'वे दो देव कौन हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'अन्न और प्राण।' [शाकल्य—] 'डेढ़ देव कौन हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'जो यह बहता है'॥ ८॥

यहाँ ऐसा कहते हैं—'यह जो वायु है, एकही-सा बहता है; फिर यह अध्यर्ध—डेढ़ किस प्रकार है?' [उत्तर—] 'क्योंकि इसीमें यह सब ऋद्धिको प्राप्त होता है, इसलिये यह अध्यर्ध (डेढ़) है।' [शाकल्य—] 'एक देव कौन है?' [याज्ञवल्क्य—] '**प्राण;** वह ब्रह्म है, उसीको '**त्यत्**' ऐसा कहते हैं'॥ ९॥

[शाकल्य—] 'पृथिवी ही जिसका आयतन है तथा अग्नि लोक (दर्शनशक्ति) और मन ज्योति (संकल्प-विकल्पका साधन) है, जो भी उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसमूहका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता (पण्डित) है। याज्ञवल्क्य! [तुम तो बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो!]।' [याज्ञवल्क्य—] 'जिसे तुम सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य-करण-संघातका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। यह जो शारीर-पुरुष है, वही यह है। शाकल्य! और बोलो।' [शाकल्य—] 'अच्छा, उसका देवता कौन है?' तब याज्ञवल्क्यने 'अमृत' ऐसा कहा॥ १०॥

[शाकल्य—] 'काम ही जिसका आयतन है, हृदय लोक है और मन ज्योति है, उस पुरुषको जो भी सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य-करण-समूहका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है। याज्ञवल्क्य! [तुम तो बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो!]।' [याज्ञवल्क्य—] 'जिसे तुम सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य-करण-संघातका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह काममय पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका कौन देवता है?' तब याज्ञवल्क्यने 'स्त्रियाँ'॥ ११॥

[शाकल्य—] 'रूप ही जिसका आयतन है, चक्षु लोक है और मन ज्योति है, जो भी उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-समूहका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य! [तुम तो बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो!]।' [याज्ञवल्क्य—] 'तुम जिसे सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-समूहका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह आदित्यमें पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका देवता कौन है?' तब याज्ञवल्क्यने 'सत्य' ऐसा कहा॥ १२॥

[शाकल्य—] 'आकाश ही जिसका आयतन है, श्रोत्र लोक है और मन ज्योति है, जो भी उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-समूहका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य! [तुम तो बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो!]' [याज्ञवल्क्य—] 'तुम जिसे सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-समूहका परम आश्रय कहते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह श्रोत्रसम्बन्धी प्रातिश्रुत्क पुरुष है, यही वह है; हे शाकल्य! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका कौन देवता है?' तब याज्ञवल्क्यने 'दिशाएँ' ऐसा कहा॥ १३॥

[शाकल्य—] 'तम ही जिसका आयतन है, हृदय लोक है, मन ज्योति है, जो भी उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-समूहका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है, याज्ञवल्क्य! [तुम तो बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो!]।' [याज्ञवल्क्य—] 'तुम जिसे समस्त आध्यात्मिक कार्य-करण-समूहका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह छायामय पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका कौन देवता है?' तब याज्ञवल्क्यने 'मृत्यु' ऐसा कहा॥ १४॥

[शाकल्य—] 'रूप ही जिसका आयतन है, नेत्र लोक है और मन ज्योति है, उस पुरुषको जो भी सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-संघातका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य! [तुम तो बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो!]' [याज्ञवल्क्य—] 'तुम जिसे सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-

करण-संघातका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह आदर्श (दर्पण)-के भीतर पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका देवता कौन है?' तब याज्ञवल्क्यने 'असु' ऐसा कहा॥ १५॥

[शाकल्य—] 'जल ही जिसका आयतन है, हृदय लोक है और मन ज्योति है, उस पुरुषको जो भी सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-संघातका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य! [तुम तो बिना जाने ही विद्वान् होनेका अभिमान कर रहे हो!]।' [याज्ञवल्क्य—] 'जिसे तुम सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-समूहका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह जलमें पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका कौन देवता है?' तब याज्ञवल्क्यने 'वरुण' ऐसा कहा॥ १६॥

[शाकल्य—] 'वीर्य ही जिसका आयतन है, हृदय लोक है और मन ज्योति है, जो भी उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-संघातका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य! [तुम तो बिना जाने ही विद्वान् होनेका अभिमान कर रहे हो!]' [याज्ञवल्क्य—] 'जिसे तुम सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-संघातका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह पुत्ररूप पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका कौन देवता है?' तब याज्ञवल्क्यने 'प्रजापति' ऐसा कहा॥ १७॥

'शाकल्य!' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'इन ब्राह्मणोंने निश्चय ही तुम्हें अंगारे निकालनेका चिमटा बना रखा है'॥ १८॥

'हे याज्ञवल्क्य!' ऐसा शाकल्यने कहा, 'यह जो तुम इन कुरुपाञ्चालदेशीय ब्राह्मणोंपर आक्षेप करते हो सो क्या तुम ब्रह्मवेत्ता हो—ऐसा समझकर करते हो?' [याज्ञवल्क्य—मेरा ब्रह्मज्ञान यह है कि] 'मैं देवता और प्रतिष्ठाके सहित दिशाओंका ज्ञान रखता हूँ।' [शाकल्य—] 'यदि तुम देवता और प्रतिष्ठाके सहित दिशाओंको जानते हो [तो बताओ] इस पूर्व दिशामें तुम किस देवतासे युक्त हो?' [याज्ञवल्क्य—] 'वहाँ मैं आदित्य (सूर्य) देवतावाला हूँ।' [शाकल्य—] 'वह आदित्य किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'नेत्रमें।' [शाकल्य—] 'नेत्र किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'रूपोंमें, क्योंकि पुरुष नेत्रसे ही रूपोंको देखता है।' [शाकल्य—] 'रूप किसमें प्रतिष्ठित है?' याज्ञवल्क्यने कहा, 'हृदयमें, क्योंकि पुरुष हृदयसे ही रूपोंको जानता है, अतः हृदयमें ही रूप प्रतिष्ठित हैं।' [शाकल्य—] 'हे याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है'॥ १९-२०॥

'इस दक्षिण दिशामें तुम कौन-से देवतावाले हो?' [याज्ञवल्क्य—] 'यमदेवतावाला हूँ।' [शाकल्य—] 'वह यमदेवता किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'यज्ञमें।' [शाकल्य—] 'यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'दक्षिणामें।' [शाकल्य—] 'दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'श्रद्धामें; क्योंकि जब पुरुष श्रद्धा करता है, तभी दक्षिणा देता है, अतः श्रद्धामें ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है।' [शाकल्य—] 'श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है?' याज्ञवल्क्यने कहा, 'हृदयमें; क्योंकि हृदयसे ही पुरुष श्रद्धाको जानता है, अतः हृदयमें ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है।' [शाकल्य—] 'याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है'॥ २१॥

'इस पश्चिम दिशामें तुम कौन-से देवतावाले हो?' [याज्ञवल्क्य—] 'वरुणदेवतावाला हूँ।' [शाकल्य—] 'वह वरुण किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'जलमें।' [शाकल्य—] 'जल किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'वीर्यमें।' [शाकल्य—] 'वीर्य किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'हृदयमें; इसीसे पिताके अनुरूप उत्पन्न हुए पुत्रको लोग कहते हैं कि यह मानो पिताके हृदयसे ही निकला है, मानो पिताके हृदयसे ही बना है; क्योंकि हृदयमें ही वीर्य स्थित रहता है।' [शाकल्य—] 'याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है'॥ २२॥

'इस उत्तर दिशामें तुम किस देवतावाले हो?' [याज्ञवल्क्य—] 'सोमदेवतावाला हूँ।' [शाकल्य—] 'वह सोम किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'दीक्षामें।' [शाकल्य—] 'दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'सत्यमें; इसीसे दीक्षित पुरुषसे कहते हैं कि सत्य बोलो; क्योंकि सत्यमें ही दीक्षा प्रतिष्ठित है।' [शाकल्य—] 'सत्य किसमें प्रतिष्ठित है?' 'हृदयमें।' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। 'क्योंकि पुरुष हृदयसे ही सत्यको जानता है, अतः हृदयमें ही सत्य प्रतिष्ठित है।' [शाकल्य—] 'याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है'॥ २३॥

'इस ध्रुवा दिशामें तुम कौन देवतावाले हो?'

[याज्ञवल्क्य—] 'अग्निदेवतावाला हूँ।' [शाकल्य—] 'वह अग्नि किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'वाक्में।' [शाकल्य—] 'वाक् किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'हृदयमें।' [शाकल्य—] 'हृदय किसमें प्रतिष्ठित है?'॥ २४॥

याज्ञवल्क्यने 'अहल्लिक! (प्रेत!)' ऐसा सम्बोधन करके कहा—'जिस समय तुम इसे हमसे अलग मानते हो, उस समय यदि यह (हृदय—आत्मा) हमसे अलग हो जाय तो इस शरीरको कुत्ते खा जायँ अथवा इसे पक्षी चोंच मारकर मथ डालें;॥ २५॥

'तुम (शरीर) और आत्मा (हृदय) किसमें प्रतिष्ठित हो?' [याज्ञवल्क्य—] 'प्राणमें।' [शाकल्य—] 'प्राण किसमें प्रतिष्ठित है?' 'अपानमें।' 'अपान किसमें प्रतिष्ठित है?' 'व्यानमें।' 'व्यान किसमें प्रतिष्ठित है?' 'उदानमें।' 'उदान किसमें प्रतिष्ठित है?' 'समानमें।' 'जिसका [मधुकाण्डमें] 'नेति-नेति' ऐसा कहकर निरूपण किया गया है, वह आत्मा अगृह्य है—वह ग्रहण नहीं किया जा सकता, अशीर्य है—वह शीर्ण (नष्ट) नहीं होता, असङ्ग है—वह संसक्त नहीं होता, असित है—वह व्यथित और हिंसित नहीं होता। ये आठ (पृथिवी आदि) आयतन हैं, आठ (अग्नि आदि) लोक हैं, आठ (अमृतादि) देव हैं और आठ (शारीरादि) पुरुष हैं। वह जो उन पुरुषोंको निश्चयपूर्वक जानकर उनका अपने हृदयमें उपसंहार करके औपाधिक धर्मोंका अतिक्रमण किये हुए है, उस औपनिषद पुरुषको मैं पूछता हूँ; यदि तुम मुझे उसे स्पष्टतया न बतला सकोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा।' याज्ञवल्क्यने यों कहा, किंतु शाकल्य उसे नहीं जानता था, इसलिये बता नहीं सका एवं उसका मस्तक गिर गया। यही नहीं, अपितु चोरलोग उसकी हड्डियोंको कुछ और समझकर चुरा ले गये॥ २६॥

फिर याज्ञवल्क्यने कहा, 'पूजनीय ब्राह्मणगण! आपमेंसे जिसकी इच्छा हो, वह मुझसे प्रश्न करे अथवा आप सभी मुझसे प्रश्न करें। इसी प्रकार आपमेंसे जिसकी इच्छा हो, उससे मैं प्रश्न करता हूँ या आप सभीसे मैं प्रश्न करता हूँ।' किंतु उन ब्राह्मणोंका साहस न हुआ॥ २७॥

याज्ञवल्क्यने उनसे इन श्लोकोंद्वारा प्रश्न किया—वनस्पति (विशालता आदि गुणोंसे युक्त) वृक्ष जैसा (जिन धर्मोंसे युक्त) होता है, पुरुष (जीवका शरीर] भी वैसा ही (उन्हीं धर्मोंसे सम्पन्न) होता है—यह बिलकुल सत्य है। वृक्षके पत्ते होते हैं और पुरुषके शरीरमें पत्तोंकी जगह रोम होते हैं; पुरुषके शरीरमें जो त्वचा (चाम) है, उसकी समतामें इस वृक्षके बाहरी भागमें छाल होती है। पुरुषकी त्वचासे ही रक्त निकलता है और वृक्षकी भी त्वचा (छाल)-से ही गोंद निकलता है। वृक्ष और पुरुषकी इस समानताके कारण ही जिस प्रकार आघात लगनेपर वृक्षसे रस निकलता है, उसी प्रकार चोट खाये हुए पुरुष-शरीरसे रक्त प्रवाहित होता है। पुरुषके शरीरमें मांस होते हैं और वनस्पतिके शकर (छालका भीतरी अंश); पुरुषके स्नायु (शिरा) होते हैं और वृक्षमें किनाट (शकरके भी भीतरका अंशविशेष]। वह किनाट स्नायुकी ही भाँति स्थिर होता है। पुरुषके स्नायु-जालके भीतर जैसे हड्डियाँ होती हैं, वैसे ही वृक्षमें किनाटके भीतर काष्ठ हैं तथा मज्जा तो दोनोंमें मज्जाके ही समान निश्चित की गयी है। किंतु यदि वृक्षको काट दिया जाता है तो वह अपने मूलसे पुनः और भी नवीन होकर अङ्कुरित हो आता है; इसी प्रकार यदि मनुष्यको मृत्यु काट डाले तो वह (वृक्षकी भाँति) किस मूलसे उत्पन्न होगा? वह वीर्यसे उत्पन्न होता है—ऐसा तो मत कहो; क्योंकि वीर्य तो जीवित पुरुषसे ही उत्पन्न होता है [मृत पुरुषसे नहीं]। वृक्ष भी [केवल तनेसे ही नहीं उत्पन्न होता,] बीजसे भी उत्पन्न होता है; किंतु बीजसे उत्पन्न होनेवाला वृक्ष भी कट जानेके पश्चात् पुनः अङ्कुरित होकर उत्पन्न होता है, यह प्रत्यक्ष देखा गया है। पर यदि वृक्षको जड़सहित उखाड़ दिया जाय तो वह फिर उत्पन्न नहीं होगा; इसी प्रकार यदि मनुष्यका मृत्यु छेदन कर दे तो वह किस मूलसे उत्पन्न होता है? [यदि ऐसा माना जाय कि] पुरुष तो उत्पन्न हो ही गया है, अतः फिर उत्पन्न नहीं होता [तो यह ठीक नहीं; क्योंकि वह मरकर पुनः उत्पन्न होता ही है] ऐसी दशामें मृत्युके पश्चात् इसे पुनः कौन उत्पन्न करेगा? [यह प्रश्न है; ब्राह्मणोंने इसका कोई उत्तर नहीं दिया, इसलिये श्रुति स्वयं ही उसका निर्देश करती है—] विज्ञान आनन्द ब्रह्म है, वह धनदाता (कर्म करनेवाले यजमान)-की परमगति है और ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ताका भी परम आश्रय है॥ १—७॥॥ २८॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त॥ ३॥

ॐ

चतुर्थ अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद

विदेह जनक आसनपर स्थित था। तभी उसके पास याज्ञवल्क्यजी आये। उनसे [जनकने] कहा, 'याज्ञवल्क्यजी! कैसे पधारे? पशुओंकी इच्छासे अथवा सूक्ष्मान्त [प्रश्न श्रवण करने]-के लिये?' 'राजन्! मैं दोनोंके लिये आया हूँ' ऐसा [याज्ञवल्क्यने] कहा॥ १॥

[याज्ञवल्क्य—] 'तुमसे किसी आचार्यने जो कहा है, वह हम सुनें।' [जनक—] 'मुझसे शिलिनके पुत्र जित्वाने कहा है कि वाक् ही ब्रह्म है।' [याज्ञवल्क्य—] 'जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस शिलिनके पुत्रने 'वाक् ही ब्रह्म है'—ऐसा कहा है, क्योंकि न बोलनेवालेको क्या लाभ हो सकता है? किंतु क्या उसने उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं?' [जनक—] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य—] 'राजन्! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।' [जनक—] 'याज्ञवल्क्यजी! वह मुझे आप बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य—] 'वाक् ही उसका आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है; उसकी 'प्रज्ञा' इस प्रकार उपासना करे।' [जनक—] 'याज्ञवल्क्यजी! प्रज्ञता क्या है?' 'राजन्! वाक् ही प्रज्ञता है ' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे सम्राट्! वाक्से ही बन्धुका ज्ञान होता है और राजन्! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत, आशित (भूखेको अन्न खिलानेसे होनेवाले धर्म], पायित (प्यासेको पानी पिलानेसे होनेवाले धर्म], यह लोक, परलोक और समस्त भूत वाक्से ही जाने जाते हैं। हे सम्राट्! वाक् ही परब्रह्म है। इस प्रकार उपासना करनेवालेको वाक् नहीं त्यागती, सम्पूर्ण भूत उसको उपहार देते हैं। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।' विदेहराज जनकने कहा—'मैं आपको—जिनसे हाथीके समान बैल उत्पन्न हों ऐसी—सहस्र गौएँ देता हूँ।' उस याज्ञवल्क्यने कहा—'मेरे पिताजीका सिद्धान्त था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये'॥ २॥

[याज्ञवल्क्य—] 'तुमसे किसी [आचार्य]-ने जो भी कहा है, वह हम सुनें।' [जनक—] 'मुझसे शुल्बके पुत्र उदङ्कने 'प्राण ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है।' [याज्ञवल्क्य—] 'जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस शुल्बके पुत्रने 'प्राण ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है; क्योंकि प्राणक्रिया न करनेवालेको क्या लाभ हो सकता है? किंतु क्या उसने उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं?' [जनक—] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य—] 'राजन्! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।' [जनक—] 'याज्ञवल्क्यजी! वह मुझे आप बतलाइये' [याज्ञवल्क्य—] 'प्राण ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, उसकी 'प्रिय' इस रूपसे उपासना करे।' [जनक—] 'याज्ञवल्क्यजी! प्रियता क्या है?' 'हे सम्राट्! प्राण ही प्रियता है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'राजन्! प्राणके लिये ही लोग अयाज्यसे यजन कराते हैं, प्रतिग्रह न लेनेयोग्यसे प्रतिग्रह लेते हैं तथा जिस दिशामें जाते हैं, उसमें ही वधकी आशंका करते हैं। हे सम्राट्! यह सब प्राणके लिये ही होता है। हे राजन्! प्राण ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसे प्राण नहीं त्यागता, उसको सब भूत उपहार देते हैं और वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।' 'मैं आपको हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करनेवाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ' ऐसा विदेहराज जनकने कहा। याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये'॥ ३॥

[याज्ञवल्क्य—] 'तुमसे किसी आचार्यने जो भी कहा है, वह हम सुनें।' [जनक—] 'मुझसे वृष्णके पुत्र बर्कुने कहा है कि 'चक्षु ही ब्रह्म है'।' [याज्ञवल्क्य—] 'जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस वार्ष्णने 'चक्षु ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है, क्योंकि न देखनेवालेको क्या लाभ हो सकता है? किंतु क्या उसने

तुम्हें उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं?'' [जनक—] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य—] 'हे सम्राट्! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।' [जनक—] 'याज्ञवल्क्यजी! वह मुझे आप बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य—] ''चक्षु ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, इसकी 'सत्य' इस रूपसे उपासना करे।'' [जनक—] 'हे याज्ञवल्क्य! सत्यता क्या है?' 'हे राजन्! चक्षु ही सत्यता है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। ''हे सम्राट्! चक्षुसे देखनेवालेसे ही 'क्या तूने देखा' ऐसा जब कहा जाता है और वह कहता है कि 'मैंने देखा' तो वह सत्य होता है। राजन्! चक्षु ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसका चक्षु त्याग नहीं करता, सब भूत उसको उपहार देते हैं और वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।'' 'मैं आपको हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करनेवाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ' ऐसा विदेहराज जनकने कहा। उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये'॥ ४॥

[याज्ञवल्क्य—] 'तुमसे किसी आचार्यने जो भी कहा है, वह हम सुनें।' [जनक—] ''मुझसे भारद्वाज-गोत्रोत्पन्न गर्दभीविपीतने कहा है कि 'श्रोत्र ही ब्रह्म है'।'' [याज्ञवल्क्य—] ''जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस भारद्वाजने 'श्रोत्र ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है; क्योंकि न सुननेवालेको क्या लाभ हो सकता है? किंतु क्या उसने तुम्हें उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं?'' (जनक—) 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य—] 'हे सम्राट्! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।' [जनक—] 'हे याज्ञवल्क्य! वह मुझे आप बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य—] ''श्रोत्र ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है तथा इसकी 'अनन्त' इस रूपसे उपासना करे।'' [जनक—] 'हे याज्ञवल्क्य! अनन्तता क्या है?' ''हे सम्राट्! दिशाएँ ही अनन्तता हैं' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'इसीसे हे सम्राट्! कोई भी जिस किसी दिशाको जाता है, वह उसका अन्त नहीं पाता; क्योंकि दिशाएँ अनन्त हैं और हे सम्राट्! दिशाएँ ही श्रोत्र हैं। श्रोत्र ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, श्रोत्र उसका त्याग नहीं करता, सब भूत उसको उपहार देते हैं और वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।' 'मैं आपको हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करनेवाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ' ऐसा विदेहराज जनकने कहा। याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये'॥ ५॥

[याज्ञवल्क्य—] 'तुमसे किसी आचार्यने जो भी कहा है, वह हम सुनें।' [जनक—] ''मुझसे जबालाके पुत्र सत्यकामने कहा है कि 'मन ही ब्रह्म है'।'' [याज्ञवल्क्य—] ''जैसे मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस जबालाके पुत्रने 'मन ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है; क्योंकि मनोहीनको क्या लाभ हो सकता है? किंतु क्या उसने तुम्हें उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं।'' [जनक—] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य—] 'हे सम्राट्! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।' [जनक—] 'हे याज्ञवल्क्य! वह मुझे आप बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य—] ''मन ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, इसकी 'आनन्द' इस रूपसे उपासना करे।'' [जनक—] 'याज्ञवल्क्य! आनन्दता क्या है?' 'हे सम्राट्! मन ही आनन्दता है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे राजन्! मनसे ही स्त्रीकी इच्छा करता है; उसमें अनुरूप पुत्र उत्पन्न होता है, वह आनन्द है। हे सम्राट्! मन ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसे मन नहीं त्यागता, सब भूत उसका उपकार करते हैं तथा वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।' 'मैं आपको हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करनेवाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ' ऐसा विदेहराज जनकने कहा। याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये'॥ ६॥

[याज्ञवल्क्य—] 'तुमसे किसी आचार्यने जो भी कहा है वह हम सुनें।' [जनक—] ''मुझसे विदग्ध शाकल्यने कहा है कि 'हृदय ही ब्रह्म है'।'' [याज्ञवल्क्य—] ''जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुष उपदेश करे, उसी प्रकार उस शाकल्यने 'हृदय ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है; क्योंकि हृदयहीनको क्या मिल सकता है? किंतु क्या उसने तुम्हें उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं?'' [जनक—] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य—] 'हे सम्राट्! यह तो एक पादवाला ही ब्रह्म है।' [जनक—] 'याज्ञवल्क्य! वह मुझे आप

बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य—] ''हृदय ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है तथा इसकी 'स्थिति' इस रूपसे उपासना करे।'' [जनक—] 'याज्ञवल्क्य! स्थितता क्या है?' 'हे सम्राट्! हृदय ही स्थितता है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'राजन्! हृदय ही समस्त भूतोंका आयतन है, हृदय ही सब भूतोंकी प्रतिष्ठा है और हृदयमें ही समस्त भूत प्रतिष्ठित होते हैं। हे सम्राट्! हृदय ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसका हृदय त्याग नहीं करता, सब भूत उसको उपहार समर्पण करते हैं और वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।' वैदेह जनकने कहा, 'मैं आपको हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करनेवाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ।' याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये'॥ ७॥

द्वितीय ब्राह्मण

याज्ञवल्क्यका जनकको उपदेश

विदेहराज जनकने कूर्च [नामक एक विशेष प्रकारके आसन]-से उठकर [याज्ञवल्क्यके] समीप जाकर कहा, 'याज्ञवल्क्यजी! आपको नमस्कार है, मुझे उपदेश कीजिये।' उस (याज्ञवल्क्य)-ने कहा, 'राजन्! जिस प्रकार लम्बे मार्गको जानेवाला पुरुष सम्यक् प्रकारसे रथ या नौकाका आश्रय ले, उसी प्रकार तुम इन उपनिषदों (उपासनाओं)-से युक्त प्राणादि ब्रह्मोंकी उपासना कर समाहित-चित्त हो गये हो। इस प्रकार तुम पूज्य, श्रीमान्, अधीतवेद और उक्तोपनिषत्क (जिसे आचार्यने उपनिषद्का उपदेश कर दिया है—ऐसे] हो गये हो। इतना होनेपर भी बताओ तुम इस शरीरसे छूटकर कहाँ जाओगे?' [जनक—] 'भगवन्! मैं कहाँ जाऊँगा, सो मुझे मालूम नहीं है।' [याज्ञवल्क्य—] 'अब मैं तुम्हें यही बतलाऊँगा जहाँ तुम जाओगे।' [जनक—] 'भगवान्! मुझे बतलावें'॥ १॥

'यह जो दक्षिण नेत्रमें पुरुष है, इन्ध नामवाला है; उसी इस पुरुषको इन्ध होते हुए भी परोक्षरूपसे इन्द्र कहते हैं; क्योंकि देवगण मानो परोक्षप्रिय हैं, प्रत्यक्षसे द्वेष करनेवाले हैं और यह जो बायें नेत्रमें पुरुषरूप है, वह इस (इन्द्र)-की पत्नी विराट् (अन्न) है; उन दोनोंका यह संस्ताव (मिलनका स्थान) है जो कि यह हृदयान्तर्गत आकाश है। उन दोनोंका यह अन्न है जो कि यह हृदयान्तर्गत लाल पिण्ड है। उन दोनोंका यह प्रावरण है जो कि यह हृदयान्तर्गत जाल-सा है। उन दोनोंका यह मार्ग—सञ्चार करनेका द्वार है जो कि यह हृदयसे ऊपरकी ओर नाडी जाती है। जिस प्रकार सहस्र भागोंमें विभक्त हुआ केश होता है, वैसी ही ये हिता नामकी नाडियाँ हृदयके भीतर स्थित हैं। इन्हींके द्वारा जाता हुआ यह अन्न [शरीर]-में जाता है; इसीसे इस (स्थूल-शरीराभिमानी वैश्वानर)-से यह (सूक्ष्मदेहाभिमानी तैजस] सूक्ष्मतर आहार ग्रहण करनेवाला ही होता है॥ २-३॥

उस विद्वान्के पूर्वदिशा पूर्व प्राण हैं, दक्षिणदिशा दक्षिण प्राण हैं, पश्चिमदिशा पश्चिम प्राण हैं, उत्तरदिशा उत्तर प्राण हैं, ऊपरकी दिशा ऊपरके प्राण हैं, नीचेकी दिशा नीचेके प्राण हैं और सम्पूर्ण दिशाएँ सम्पूर्ण प्राण हैं। वह यह 'नेति-नेति' रूपसे वर्णन किया हुआ आत्मा अगृह्य है—वह ग्रहण नहीं किया जाता; वह अशीर्य है—शीर्ण (नष्ट) नहीं होता, असङ्ग है—उसका सङ्ग नहीं होता; वह अबद्ध है—व्यथित नहीं होता और क्षीण नहीं होता। हे जनक! तू निश्चय अभयको प्राप्त हो गया है'—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। उस विदेहराज जनकने कहा, 'भगवन् याज्ञवल्क्य! जिन आपने मुझे अभय ब्रह्मका ज्ञान कराया है, उन आपको अभय प्राप्त हो, आपको नमस्कार है, यह विदेह देश और यह मैं आपके अधीन हैं'॥ ४॥

तृतीय ब्राह्मण

याज्ञवल्क्यके द्वारा आत्माके स्वरूपका कथन

विदेहराज जनकके पास याज्ञवल्क्य गये। उनका विचार था मैं कुछ उपदेश नहीं करूँगा। किंतु पहले कभी विदेहराज जनक और याज्ञवल्क्यने अग्निहोत्रके विषयमें परस्पर संवाद किया था, उस समय याज्ञवल्क्यने

उसे वर दिया था और उसने इच्छानुसार प्रश्न करना ही माँगा था। यह वर याज्ञवल्क्यने उसे दे दिया था; अतः उनसे पहले राजाने ही प्रश्न किया— ॥ १ ॥

'याज्ञवल्क्यजी! यह पुरुष किस ज्योतिवाला है?' 'हे सम्राट्! यह आदित्यरूप ज्योतिवाला है'—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'यह आदित्यरूप ज्योतिसे ही बैठता, सब ओर जाता, कर्म करता और लौट आता है।' 'याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है'। [जनक—] 'याज्ञवल्क्य! आदित्यके अस्त हो जानेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है?' [याज्ञवल्क्य—] 'उस समय चन्द्रमा ही इसकी ज्योति होता है; चन्द्रमारूप ज्योतिके द्वारा ही यह बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है।' [जनक—] 'याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है। याज्ञवल्क्यजी! आदित्यके अस्त हो जानेपर तथा चन्द्रमाके अस्त हो जानेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है?' 'अग्नि ही इसकी ज्योति होता है। यह अग्निरूप ज्योतिके द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है।' 'याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है। याज्ञवल्क्यजी! आदित्यके अस्त होनेपर, चन्द्रमाके अस्त होनेपर और अग्निके शान्त होनेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है?' 'वाक् ही इसकी ज्योति होती है। यह वाक्रूप ज्योतिके द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है। इसीसे हे सम्राट्! जहाँ अपना हाथ भी नहीं जाना जाता, वहाँ ज्यों ही वाणीका उच्चारण किया जाता है कि पास चला जाता है।' 'याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है। याज्ञवल्क्यजी! आदित्यके अस्त होनेपर, चन्द्रमाके अस्त होनेपर, अग्निके शान्त होनेपर और वाक्के भी शान्त होनेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला रहता है?' 'आत्मा ही इसकी ज्योति होता है। यह आत्मज्योतिके द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और फिर लौट आता है'॥ २—६ ॥

[जनक—] 'आत्मा कौन है?' [याज्ञवल्क्य—] 'यह जो प्राणोंमें बुद्धिवृत्तियोंके भीतर रहनेवाला विज्ञानमय ज्योतिःस्वरूप पुरुष है, वह समान (बुद्धिवृत्तियोंके सदृश) हुआ इस लोक और परलोक दोनोंमें सञ्चार करता है। वह [बुद्धिवृत्तिके अनुसार] मानो चिन्तन करता है और [प्राणवृत्तिके अनुरूप होकर] मानो चेष्टा करता है। वही स्वप्न होकर इस लोक (देहेन्द्रिय-सङ्घात)-का अतिक्रमण करता है और [शरीर तथा इन्द्रियरूप] मृत्युके रूपोंका भी अतिक्रमण करता है। वह यह पुरुष जन्म लेते समय शरीरको आत्मभावसे प्राप्त होता हुआ पापोंसे (देह और इन्द्रियोंसे) संश्लिष्ट हो जाता है तथा मरते समय—उत्क्रमण करते समय पापोंको त्याग देता है॥ ७-८ ॥

उस इस पुरुषके दो ही स्थान हैं—यह लोक, परलोक-सम्बन्धी स्थान और तीसरा स्वप्नस्थान सन्ध्यस्थान है। उस सन्ध्यस्थानमें स्थित रहकर यह इस लोकरूप स्थान और परलोकस्थान—इन दोनोंको देखता है। यह पुरुष परलोकस्थानके लिये जैसे साधनसे सम्पन्न होता है, उस साधनका आश्रय लेकर यह पाप (पापका फलरूप दुःख) और आनन्द दोनोंको ही देखता है। जिस समय यह सोता है, उस समय इस सर्वावान् लोककी मात्रा (एकदेश)-को लेकर, स्वयं इस स्थूल शरीरको अचेत करके तथा स्वयं ही अपने वासनामय देहको रचकर, अपने प्रकाशसे अर्थात् अपने ज्योतिःस्वरूपसे शयन करता है; इस स्वप्न-अवस्थामें यह पुरुष स्वयं ज्योतिःस्वरूप होता है॥ ९ ॥

उस अवस्थामें न रथ हैं, न रथमें जोते जानेवाले [अश्वादि] हैं और न मार्ग ही हैं। परंतु यह रथ, रथमें जोते जानेवाले [अश्वादि] और रथके मार्गोंकी रचना कर लेता है। उस अवस्थामें आनन्द, मोद और प्रमोद भी नहीं हैं; किंतु यह आनन्द, मोद और प्रमोदकी रचना कर लेता है। वहाँ छोटे-छोटे कुण्ड, सरोवर और नदियाँ नहीं हैं; यह कुण्ड, सरोवर और नदियोंकी रचना कर लेता है—वही उनका कर्ता है॥ १० ॥

इस विषयमें ये श्लोक हैं—आत्मा स्वप्नके द्वारा शरीरको निश्चेष्ट करके स्वयं न सोता हुआ सोये हुए समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करता है। वह शुद्ध—इन्द्रियमात्रारूपको लेकर पुनः जागरित-स्थानमें आता है। हिरण्मय (ज्योतिःस्वरूप) पुरुष अकेला ही [दोनों स्थानोंमें] जानेवाला है। इस निकृष्ट शरीरकी प्राणसे रक्षा करता हुआ वह अमृतधर्मा शरीरसे बाहर विचरता है। वह अकेला विचरनेवाला हिरण्मय अमृत पुरुष, जहाँ वासना होती है, वहीं चला जाता है। वह देव स्वप्नावस्थामें ऊँच-नीच भावोंको प्राप्त होता हुआ बहुत-से

रूप बना लेता है। इसी प्रकार वह स्त्रियोंके साथ आनन्द मानता हुआ, [मित्रोंके साथ] हँसता हुआ तथा [व्याघ्रादि] भय देखता हुआ-सा रहता है। सब लोग उसके आराम (क्रीडाकी सामग्री)-को ही देखते हैं, उसे कोई नहीं देखता। उस सोये हुए आत्माको सहसा न जगावे—ऐसा [वैद्यलोग] कहते हैं। जिस इन्द्रिय-प्रदेशमें वह सोया होता है, उसमें प्राप्त न होनेसे इसका शरीर दुश्चिकित्स्य हो जाता है। इसीसे अवश्य ही कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि यह (स्वप्नस्थान) इसका जागरित देश ही है; क्योंकि जिन पदार्थोंको यह जागनेपर देखता है, उन्हींको सोया हुआ भी देखता है [किंतु यह ठीक नहीं है]; क्योंकि इस अवस्थामें यह पुरुष स्वयंज्योति होता है।' [जनक—] 'वह मैं जनक श्रीमान्‌को सहस्र मुद्रा देता हूँ, अब आगे मुझे मोक्षके लिये उपदेश कीजिये'॥ ११—१४॥

[याज्ञवल्क्य—] 'वह यह आत्मा इस सुषुप्तिमें रमण और विहार करके पुण्य और पापको केवल देखकर, जैसे आया था और जहाँसे आया था, पुनः स्वप्नस्थानको ही लौट आता है। वहाँ वह जो कुछ देखता है, उससे असम्बद्ध रहता है; क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है।' [जनक—] 'याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है; मैं श्रीमान्‌को सहस्र मुद्रा देता हूँ; इससे आगे भी मोक्षके लिये ही उपदेश कीजिये'॥ १५॥

[याज्ञवल्क्य—] 'वह यह आत्मा इस स्वप्नावस्थामें रमण और विहार करके तथा पुण्य और पापको देखकर ही फिर जिस प्रकार आया था और जहाँसे आया था, उस जागरितस्थानको ही लौट जाता है। वह वहाँ जो कुछ देखता है, उससे असंश्लिष्ट रहता है; क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है।' [जनक—] 'याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है। मैं श्रीमान्‌को सहस्र मुद्रा भेंट करता हूँ; इससे आगे आप मोक्षके लिये ही उपदेश कीजिये।' [याज्ञवल्क्य—] 'वह यह पुरुष इस जागरित-अवस्थामें रमण और विहार करके तथा पुण्य और पापको देखकर फिर जिस प्रकार आया था, उसी मार्गसे यथास्थान स्वप्नस्थानको ही लौट जाता है'॥ १६-१७॥

जिस प्रकार कोई बड़ा भारी मत्स्य नदीके पूर्व और अपर दोनों तीरोंपर क्रमशः विचरण करता है, उसी प्रकार यह पुरुष स्वप्नस्थान और जागरितस्थान इन दोनों ही स्थानोंमें क्रमशः विचरण करता है। जिस प्रकार इस आकाशमें श्येन (बाज) अथवा सुपर्ण (तेज उड़नेवाला बाज) सब ओर उड़कर थक जानेपर पंखोंको फैलाकर घोंसलेकी ओर ही उड़ता है, उसी प्रकार यह पुरुष इस स्थानकी ओर दौड़ता है, जहाँ सोनेपर यह किसी भोगकी इच्छा नहीं करता और न कोई स्वप्न ही देखता है॥ १८-१९॥

उसकी वे ये हिता नामकी नाडियाँ, जो सहस्र भागोंमें विभक्त केशके सदृश सूक्ष्मतासे रहती हैं, शुक्ल, नील, पीत, हरित और लाल रंगके रससे पूर्ण हैं। सो जहाँ इस पुरुषको मानो [शत्रु] मारते, मानो अपने वशमें करते और जहाँ मानो इसे हाथी खदेड़ता है अथवा जहाँ यह मानो गड्ढेमें गिरता है; इस प्रकार जो कुछ भी जाग्रदवस्थाके भय देखता है, उसीको इस स्वप्नावस्थामें अविद्यासे मानता-जानता है और जहाँ यह देवताके समान, राजाके समान अथवा मैं ही यह सब हूँ—ऐसा मानता है, वह इसका परम धाम है॥ २०॥

वह इसका कामरहित, पापरहित और अभय रूप है। व्यवहारमें जिस प्रकार अपनी प्रिया भार्याको आलिङ्गन करनेवाले पुरुषको न कुछ बाहरका ज्ञान रहता है और न भीतरका, इसी प्रकार यह पुरुष प्राज्ञात्मासे आलिङ्गित होनेपर न कुछ बाहरका विषय जानता है और न भीतरका; यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकशून्य रूप है। इस सुषुप्तावस्थामें पिता अपिता हो जाता है, माता अमाता हो जाती है, लोक अलोक हो जाते हैं, देव अदेव हो जाते हैं और वेद अवेद हो जाते हैं। यहाँ चोर अचोर हो जाता है, भ्रूणहत्या करनेवाला अभ्रूणहा हो जाता है तथा चाण्डाल अचाण्डाल, पौल्कस अपौल्कस, श्रमण अश्रमण और तापस अतापस हो जाते हैं। उस समय यह पुरुष पुण्यसे असम्बद्ध तथा पापसे भी असम्बद्ध होता है और हृदयके सम्पूर्ण शोकोंको पार कर जाता है॥ २१-२२॥

वह जो नहीं देखता सो देखता हुआ ही नहीं देखता। द्रष्टाकी दृष्टिका कभी लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस समय उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, जिसे देखे। वह जो नहीं सूँघता सो सूँघता हुआ ही नहीं सूँघता; सूँघनेवालेकी गन्धग्रहणशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह

अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, जिसे वह सूँघे। वह जो रसास्वाद नहीं करता, सो रसास्वाद करता हुआ ही नहीं करता। रसास्वाद करनेवालेकी रसग्रहणशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं, जिसका रस ग्रहण करे। वह जो नहीं बोलता सो बोलता हुआ ही नहीं बोलता। वक्ताकी वचनशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न दूसरा कुछ है ही नहीं, जिसके विषयमें वह बोले। वह जो नहीं सुनता सो सुनता हुआ ही नहीं सुनता। श्रोताकी श्रवणशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, जिसके विषयमें वह सुने। वह जो मनन नहीं करता सो मनन करता हुआ ही मनन नहीं करता। मनन करनेवालेकी मननशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, जिसके विषयमें वह मनन करे। वह जो स्पर्श नहीं करता सो स्पर्श करता हुआ ही स्पर्श नहीं करता। स्पर्श करनेवालेकी स्पर्शशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं, जिसे वह स्पर्श करे। वह जो नहीं जानता सो नहीं जानता हुआ ही नहीं जानता। विज्ञाताकी विज्ञाति (विज्ञानशक्ति)-का सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ ही नहीं होता, जिसे वह विशेषरूपसे जाने॥ २३—३०॥

जहाँ (जागरित या स्वप्नावस्थामें) आत्मासे भिन्न अन्य-सा होता है, वहाँ अन्य अन्यको देख सकता है, अन्य अन्यको सूँघ सकता है, अन्य अन्यको चख सकता है, अन्य अन्यको बोल सकता है, अन्य अन्यको सुन सकता है, अन्य अन्यका मनन कर सकता है, अन्य अन्यका स्पर्श कर सकता है, अन्य अन्यको जान सकता है। परंतु जैसे जलमें वैसे ही सुषुप्तिमें एक अद्वैत द्रष्टा है। हे सम्राट्! यह ब्रह्मलोक है'—ऐसा याज्ञवल्क्यने जनकको उपदेश दिया। 'यह इस (पुरुष)-की परम गति है, यह इसकी परम सम्पत्ति है, यह इसका परमलोक है, यह इसका परमानन्द है। इस आनन्दकी मात्राके आश्रित ही अन्य प्राणी जीवन धारण करते हैं॥ ३१-३२॥

वह जो मनुष्योंमें सब अङ्गोंसे पूर्ण समृद्ध, दूसरोंका अधिपति और मनुष्यसम्बन्धी सम्पूर्ण भोगसामग्रियोंद्वारा सबसे अधिक सम्पन्न होता है, वह मनुष्योंका परम आनन्द है। अब जो मनुष्योंके सौ आनन्द हैं, वह पितृलोकको जीतनेवाले पितृगणका एक आनन्द है और जो पितृलोकको जीतनेवाले पितरोंके सौ आनन्द हैं, वह गन्धर्वलोकका एक आनन्द है तथा जो गन्धर्वलोकके सौ आनन्द हैं, वह कर्मदेवोंका, जो कि कर्मके द्वारा देवत्वको प्राप्त होते हैं, एक आनन्द है। जो कर्मदेवोंके सौ आनन्द हैं, वह आजान (जन्मसिद्ध) देवोंका एक आनन्द है और जो निष्पाप, निष्काम श्रोत्रिय है [उसका भी वह आनन्द है]। जो आजानदेवोंके सौ आनन्द हैं, वह प्रजापतिलोकका एक आनन्द है और जो निष्पाप निष्काम श्रोत्रिय है [उसका भी वह आनन्द है]। जो प्रजापतिलोकके सौ आनन्द हैं, वह ब्रह्मलोकका एक आनन्द है और जो निष्पाप, निष्काम श्रोत्रिय है [उसका भी वह आनन्द है] तथा यही परम आनन्द है। हे सम्राट्! यह ब्रह्मलोक है'—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। [जनक बोले—] 'मैं श्रीमान्‌को सहस्र [गौएँ] देता हूँ, अब आगे भी आप मोक्षके लिये ही उपदेश करें।' यह सुनकर याज्ञवल्क्यजी डर गये कि इस बुद्धिमान् राजाने तो मुझे सम्पूर्ण प्रश्नोंके निर्णयपर्यन्त [उत्तर देनेको] बाँध लिया॥ ३३॥

वह यह पुरुष इस स्वप्नान्तमें रमण और विहार करके तथा पुण्य और पापको देखकर ही पुनः गये हुए मार्गसे ही यथास्थान जागरित-अवस्थाको ही लौट आता है॥ ३४॥

लोकमें जिस प्रकार बहुत अधिक बोझ लादा हुआ छकड़ा शब्द करता हुआ चलता है, उसी प्रकार यह देही आत्मा प्राज्ञात्मासे अधिष्ठित [हो मरणकालमें] शब्द करता हुआ जाता है, जब कि यह ऊपरके श्वास छोड़नेवाला हो जाता है। वह यह देह जिस समय कृशताको प्राप्त होता है, वृद्धावस्था अथवा ज्वरादि रोगके

कारण कृश हो जाता है, उस समय जैसे आम, गूलर अथवा पिप्पल-फल बन्धन (डंठल)-से छूट जाता है, वैसे ही यह पुरुष इन अङ्गोंसे छूटकर, फिर जिस मार्गसे आया था, उसीसे प्रत्येक योनिमें प्राणकी विशेष अभिव्यक्तिके लिये ही चला जाता है॥ ३५-३६॥

अतः जिस प्रकार आते हुए राजाकी उग्रकर्मा एवं पापकर्ममें नियुक्त सूत और गाँवके नेतालोग अन्न, पान और निवासस्थान तैयार रखकर 'ये आये, ये आये' इस प्रकार कहते हुए प्रतीक्षा करते हैं, उसी प्रकार इस कर्मफलवेत्ताकी सम्पूर्ण भूत 'यह ब्रह्म आता है, यह आता है' इस प्रकार कहते हुए प्रतीक्षा करते हैं॥ ३७॥

जिस प्रकार जानेके लिये तैयार हुए राजाके अभिमुख होकर उग्रकर्मा और पापकर्ममें नियुक्त सूत एवं गाँवके नेतालोग जाते हैं, उसी प्रकार जब यह ऊपरके श्वास लेने लगता है तो अन्तकालमें सारे प्राण इस आत्माके अभिमुख होकर इसके साथ जाते हैं॥ ३८॥

चतुर्थ ब्राह्मण

कामना-नाशसे ब्रह्म-प्राप्ति

वह यह आत्मा जिस समय दुर्बलताको प्राप्त हो मानो सम्मोहित हो जाता है, तब ये वागादि प्राण इसके प्रति अभिमुखतासे आते हैं। वह इन [प्राणोंकी] तेजोमात्राको सम्यक् प्रकारसे ग्रहण करके हृदयमें ही अनुक्रान्त (अभिव्यक्त ज्ञानवान्) होता है। जिस समय यह चाक्षुष पुरुष सब ओरसे व्यावृत्त होता है, उस समय मुमूर्षु रूपज्ञानहीन हो जाता है॥ १॥

[चक्षु-इन्द्रिय लिङ्गात्मासे] एकरूप हो जाती है तो लोग 'नहीं देखता' ऐसा कहते हैं; [घ्राणेन्द्रिय] एकरूप हो जाती है तो 'नहीं सूँघता' ऐसा कहते हैं; [रसनेन्द्रिय] एकरूप हो जाती है तो 'नहीं चखता' ऐसा कहते हैं; [वागिन्द्रिय] एकरूप हो जाती है तो 'नहीं बोलता' ऐसा कहते हैं; [श्रोत्रेन्द्रिय] एकरूप हो जाती है तो 'नहीं सुनता' ऐसा कहते हैं; [मन] एकरूप हो जाता है तो 'मनन नहीं करता' ऐसा कहते हैं; [त्वगिन्द्रिय] एकरूप हो जाती है तो 'स्पर्श नहीं करता' ऐसा कहते हैं और यदि [बुद्धि लिङ्गात्मासे] एकरूप हो जाती है तो 'नहीं जानता' ऐसा कहते हैं। उस इस हृदयका अग्र (बाहर जानेका मार्ग) अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है, उसीसे यह आत्मा नेत्रसे, मूर्द्धासे अथवा शरीरके किसी अन्य भागसे बाहर निकलता है। उसके उत्क्रमण करनेपर उसके साथ ही प्राण उत्क्रमण करता है, प्राणके उत्क्रमण करनेपर सम्पूर्ण प्राण (इन्द्रियवर्ग) उत्क्रमण करते हैं। उस समय यह आत्मा विशेष विज्ञानवान् होता है और विज्ञानयुक्त प्रदेशको ही जाता है। उस समय उसके साथ-साथ ज्ञान, कर्म और पूर्वप्रज्ञा (अनुभूत विषयोंकी वासना) भी जाते हैं॥ २॥

वह दृष्टान्त है—जिस प्रकार जोंक एक तृणके अन्तमें पहुँचकर दूसरे तृणरूप आश्रयको पकड़कर अपनेको सकोड़ लेती है, उसी प्रकार यह आत्मा इस शरीरको मारकर—अविद्या (अचेतनावस्था)-को प्राप्त कराकर दूसरे आधारका आश्रय ले अपना उपसंहार कर लेता है। उसमें दृष्टान्त—जिस प्रकार सुनार सुवर्णका भाग लेकर दूसरे नवीन और कल्याणतर (अधिक सुन्दर) रूपकी रचना करता है, उसी प्रकार यह आत्मा इस शरीरको नष्टकर—अचेतनावस्थाको प्राप्त करके दूसरे पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्मा अथवा अन्य भूतोंके नवीन और सुन्दर रूपकी रचना करता है॥ ३-४॥

वह यह आत्मा ब्रह्म है। वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय और सर्वमय है। जो कुछ इदंमय (प्रत्यक्ष) और अदोमय (परोक्ष) है, वह वही है। वह जैसा करनेवाला और जैसे आचरणवाला होता है, वैसा ही हो जाता है। शुभ कर्म करनेवाला शुभ होता है और पापकर्मा पापी होता है। पुरुष पुण्यकर्मसे पुण्यात्मा होता है और पापकर्मसे पापी होता है। कोई-कोई कहते हैं कि यह पुरुष काममय ही है; वह जैसी कामनावाला होता है वैसा ही संकल्प करता है, जैसे संकल्पवाला होता है वैसा ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है॥ ५॥

उस विषयमें यह मन्त्र है—इसका लिङ्ग अर्थात् मन जिसमें अत्यन्त आसक्त होता है, उसी फलको यह साभिलाष होकर कर्मके सहित प्राप्त करता है। इस

लोकमें यह जो कुछ करता है, उस कर्मका फल प्राप्तकर उस लोकसे कर्म करनेके लिये पुनः इस लोकमें आ जाता है; अवश्य ही कामना करनेवाला पुरुष ही ऐसा करता है। अब जो कामना न करनेवाला पुरुष है [उसके विषयमें कहते हैं]—जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता; वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्मको प्राप्त होता है॥ ६॥

उसी अर्थमें यह मन्त्र है—जिस समय इसके हृदयमें आश्रित सम्पूर्ण कामनाओंका नाश हो जाता है उस समय यह मरणधर्मा अमृत हो जाता है और यहीं [इस शरीरमें] उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। इसमें दृष्टान्त—जिस प्रकार सर्पकी केंचुली बाँबीके ऊपर मृत और सर्पद्वारा परित्याग की हुई पड़ी रहती है, उसी प्रकार यह शरीर पड़ा रहता है और यह अशरीर अमृत प्राण तो ब्रह्म ही है—तेज ही है। तब विदेहराज जनकने कहा, 'वह मैं जनक श्रीमान्‌को सहस्र गौएँ देता हूँ'॥ ७॥

उस विषयमें ये मन्त्र हैं—यह ज्ञानमार्ग सूक्ष्म, विस्तीर्ण और पुरातन है। वह मुझे स्पर्श किये हुए है और मैंने ही उसका फलसाधक ज्ञान प्राप्त किया है। धीर ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस लोकमें जीते-जी ही मुक्त होकर शरीर-त्यागके बाद उसी मार्गसे स्वर्गलोक अर्थात् मोक्षको प्राप्त होते हैं॥ ८॥

उस मार्गके विषयमें मतभेद है। कोई उसमें शुक्ल और कोई नीलवर्ण बतलाते हैं तथा कोई पिङ्गलवर्ण, कोई हरित और कोई लाल कहते हैं; किंतु यह मार्ग साक्षात् ब्रह्मद्वारा अनुभूत है। इस मार्गसे पुण्य करनेवाला परमात्मतेजःस्वरूप ब्रह्मवेत्ता ही जाता है॥ ९॥

जो (भोगासक्त मनुष्य) अविद्या (भोगोंके साधनरूप कर्म)-की उपासना करते हैं, वे अज्ञानस्वरूप घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो (मिथ्याज्ञानी) विद्या (कर्तव्यकर्मका त्याग करके केवल ज्ञानके अभिमान]-में रत हैं, वे उससे भी अधिकतर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं। वे अनन्द (असुख) नामके निकृष्ट योनि और नरकरूप लोक अज्ञान और दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आच्छादित हैं; वे अविद्वान् और अज्ञानीलोग मरकर उन्हींको प्राप्त होते हैं। यदि पुरुष आत्माको 'मैं यह हूँ' इस प्रकार विशेषरूपसे जान जाय तो फिर क्या इच्छा करता हुआ और किस कामनासे शरीरके पीछे सन्तप्त हो? जिस पुरुषको इस अनेकों अनर्थोंसे पूर्ण और विवेक-विज्ञानके विरोधी विषम शरीरमें प्रविष्ट हुआ आत्मा प्राप्त और ज्ञात हो गया है, वही कृतकृत्य है। वही सब [शुभों]-का कर्ता है, उसीका लोक (मोक्षधाम) है और स्वयं वही लोक (मोक्षरूप) भी है। हम इस शरीरमें रहते हुए ही यदि उसे जान लेते हैं [तो कृतार्थ हो गये], यदि उसे नहीं जाना तो बड़ी हानि है। जो उसे जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं; किंतु दूसरे लोग तो दुःखको ही प्राप्त होते हैं। जब भूत और भविष्यत्‌के स्वामी इस प्रकाशमान अथवा कर्मफलदाता आत्माको मनुष्य साक्षात् जान लेता है तो यह उससे अपनी रक्षा करनेकी इच्छा नहीं करता*॥ १०—१५॥

जिसके नीचे संवत्सरचक्र अहोरात्रादि अवयवोंके सहित चक्कर लगाता रहता है, उस आदित्यादि ज्योतियोंके ज्योतिःस्वरूप अमृतकी देवगण 'आयु' इस प्रकार उपासना करते हैं। जिसमें पाँच पञ्चजन और [अव्याकृतसंज्ञक] आकाश भी प्रतिष्ठित है, उस आत्माको ही मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ। उस ब्रह्मको जाननेवाला मैं अमृत ही हूँ॥ १६-१७॥

जो उसे प्राणका प्राण, चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र तथा मनका मन जानते हैं, वे उस सनातन और मुख्य ब्रह्मको जानते हैं। ब्रह्मको आचार्योपदेशपूर्वक मनसे ही देखना चाहिये। इसमें नानात्व कुछ भी नहीं है। जो इसमें नानाके समान देखता है, वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है। उस ब्रह्मको [आचार्योपदेशके] अनन्तर एक प्रकारसे ही देखना चाहिये। यह ब्रह्म अप्रमेय, ध्रुव,

---

* अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः॥
अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः । ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाꣳसोऽबुधो जनाः॥
आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥
यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मास्मिन् संदेह्ये गहने प्रविष्टः । स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्त्ता तस्य लोकः स उ लोक एव॥
इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः । ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति॥
यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा । ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥
(बृह० ४।४।१०—१५)

निर्मल, [अव्याकृतरूप] आकाशसे भी सूक्ष्म, अजन्मा, आत्मा, महान् और अविनाशी है। बुद्धिमान् ब्राह्मणको उसे ही जानकर उसीमें प्रज्ञा करनी चाहिये। बहुत शब्दोंका अनुध्यान (निरन्तर चिन्तन) न करे; वह तो वाणीका श्रम ही है॥ १८—२१॥

वह यह महान् अजन्मा आत्मा, जो कि यह प्राणोंमें विज्ञानमय है, जो यह हृदयमें आकाश है, उसमें शयन करता है। वह सबको वशमें रखनेवाला, सबका शासन करनेवाला और सबका अधिपति है। वह शुभ कर्मसे बढ़ता नहीं और अशुभ कर्मसे छोटा नहीं होता। यह सर्वेश्वर है, यह भूतोंका अधिपति और भूतोंका पालन करनेवाला है। इन लोकोंकी मर्यादा भङ्ग न हो—इस प्रयोजनसे वह इनको धारण करनेवाला सेतु है। [उपनिषदोंमें जिसके स्वरूपका दिग्दर्शन कराया गया है] उस इस आत्माको ब्राह्मण वेदोंके स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तपके द्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं। इसीको जानकर मुनि होता है। इस आत्मलोककी ही इच्छा करते हुए त्यागी पुरुष सब कुछ त्यागकर चले जाते (संन्यासी हो जाते) हैं। इस संन्यासमें कारण यह है—पूर्ववर्ती विद्वान् सन्तान [तथा सकाम कर्म आदि]-की इच्छा नहीं करते थे। [वे सोचते थे—] हमें सन्तानसे क्या लेना है, जिन हमको कि यह आत्मलोक अभीष्ट है। अतः वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे व्युत्थान कर फिर भिक्षाचर्या करते थे। जो भी पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है और जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है। ये दोनों एषणाएँ ही हैं। वह यह 'नेति-नेति' इस प्रकार निर्देश किया गया आत्मा अगृह्य है, वह ग्रहण नहीं किया जाता; वह अशीर्य है, उसका नाश नहीं होता; वह असङ्ग है, कहीं आसक्त नहीं होता; बँधा नहीं है, इसलिये व्यथित नहीं होता तथा उसका क्षय नहीं होता। इस आत्मज्ञको ये दोनों (पाप-पुण्यसम्बन्धी शोक-हर्ष) प्राप्त नहीं होते। अतः इस निमित्तसे मैंने पाप किया है [ऐसा पश्चात्ताप] और इस निमित्तसे मैंने पुण्य किया है [ऐसा हर्ष] इन दोनोंको ही वह पार कर जाता है। इसे किया हुआ और न किया हुआ नित्यकर्म [फलप्रदान और प्रत्यवायके द्वारा] ताप नहीं देता॥ २२॥

यही बात ऋचाद्वारा कही गयी है—यह ब्रह्मवेत्ताकी नित्य महिमा है, जो कर्मसे न तो बढ़ती है और न घटती ही है। उस महिमाके ही स्वरूपको जाननेवाला होना चाहिये, उसे जानकर पापकर्मसे लिप्त नहीं होता। अतः इस प्रकार जाननेवाला शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मामें ही आत्माको देखता है, सभीको आत्मा देखता है। उसे [पुण्य-पापरूप] पापकी प्राप्ति नहीं होती, यह सम्पूर्ण पापोंको पार कर जाता है। इसे पाप ताप नहीं पहुँचाता, यह सारे पापोंको सन्तप्त करता है। यह पापरहित, निष्काम, निःसंशय ब्राह्मण हो जाता है। सम्राट्! यह ब्रह्मलोक है, तुम इसे पहुँचा दिये गये हो'—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। [तब जनकने कहा—] 'वह मैं श्रीमान्‌को विदेह देश देता हूँ, साथ ही आपकी दासता (सेवा] करनेके लिये अपने-आपको भी समर्पण करता हूँ'॥ २३॥

वह यह महान् अजन्मा आत्मा अन्न भक्षण करनेवाला और कर्मफल देनेवाला है। जो ऐसा जानता है, उसे सम्पूर्ण कर्मोंका फल प्राप्त होता है। वही यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अमृत एवं अभय ब्रह्म है। अभय ही ब्रह्म है; जो ऐसा जानता है, वह अभय ब्रह्म ही हो जाता है॥ २४-२५॥

पञ्चम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद

यह प्रसिद्ध है कि याज्ञवल्क्यकी मैत्रेयी और कात्यायनी—ये दो पत्नियाँ थीं। उनमें मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी और कात्यायनी साधारण स्त्रियोंकी-सी बुद्धिवाली ही थी। तब याज्ञवल्क्यने दूसरे प्रकारकी चर्याका आरम्भ करनेकी इच्छासे [कहा—] 'अरी मैत्रेयि!' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा—'मैं इस स्थान (गार्हस्थ्य-आश्रम)-से अन्यत्र सब कुछ त्यागकर जानेवाला हूँ, अर्थात् मेरा संन्यास लेनेका विचार है। इसलिये [मैं तेरी अनुमति लेता हूँ और चाहता हूँ] इस कात्यायनीके साथ तेरा बँटवारा कर दूँ'। उस मैत्रेयीने कहा, 'भगवन्! यदि यह धनसे सम्पन्न सारी पृथिवी मेरी हो जाय तो क्या मैं उससे अमर हो सकती हूँ अथवा नहीं?' याज्ञवल्क्यने कहा, 'नहीं, भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न मनुष्योंका जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा भी जीवन हो जायगा,

धनसे अमृतत्वकी तो आशा है ही नहीं।' उस मैत्रेयीने कहा, 'जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी? श्रीमान् जो कुछ अमृतत्वका साधन जानते हों, वही मुझे बतलावें।' उन याज्ञवल्क्यजीने कहा, 'निश्चय ही तू पहले भी मेरी प्रिया रही है और इस समय भी तूने मेरे प्रिय (प्रसन्नता)-को बढ़ाया है। अतः देवि! मैं प्रसन्नतापूर्वक तेरे प्रति इस (अमृतत्वके साधन)-की व्याख्या करूँगा। तू मेरे व्याख्या किये हुए विषयका चिन्तन करना'॥ १—५॥

उन्होंने कहा—'अरी मैत्रेयि! यह निश्चय है कि पतिके प्रयोजनके लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये पति प्रिय होता है; स्त्रीके प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया नहीं होती, अपने ही प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया होती है; पुत्रोंके प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय होते हैं; धनके प्रयोजनके लिये धन प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये धन प्रिय होता है; पशुओंके प्रयोजनके लिये पशु प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये पशु प्रिय होते हैं; ब्राह्मणके प्रयोजनके लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये ब्राह्मण प्रिय होता है; क्षत्रियके प्रयोजनके लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये क्षत्रिय प्रिय होता है; लोकोंके प्रयोजनके लिये लोक प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये लोक प्रिय होते हैं। देवोंके प्रयोजनके लिये देव प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये देव प्रिय होते हैं; वेदोंके प्रयोजनके लिये वेद प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये वेद प्रिय होते हैं; भूतोंके प्रयोजनके लिये भूत प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये भूत प्रिय होते हैं; सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं; अतः अरी मैत्रेयि! आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और निदिध्यासन (ध्यान) करनेयोग्य है। अरी मैत्रेयि! निश्चय ही आत्माका दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान हो जानेपर इस सबका ज्ञान हो जाता है'॥ ६॥

ब्राह्मणजाति उसे परास्त कर देती है, जो ब्राह्मणजातिको आत्मासे भिन्न समझता है। क्षत्रियजाति उसे परास्त कर देती है, जो क्षत्रियजातिको आत्मासे भिन्न जानता है। लोक उसे परास्त कर देते हैं, जो लोकोंको आत्मासे भिन्न जानता है। देवता उसे परास्त कर देते हैं, जो वेदोंको आत्मासे भिन्न जानता है। भूत उसे परास्त कर देते हैं, जो भूतोंको आत्मासे भिन्न समझते हैं। सब उसे परास्त कर देते हैं, जो सबको आत्मासे भिन्न जानता है। यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देव, ये वेद, ये भूत और ये सब जो कुछ भी हैं, यह सब आत्मा ही है। वह दृष्टान्त ऐसा है कि जिसपर लकड़ी आदिसे आघात किया जाता है, उस दुन्दुभि (नक्कारे)-के बाह्य शब्दोंको जिस प्रकार कोई ग्रहण नहीं कर सकता, किंतु दुन्दुभि या दुन्दुभिके आघातको ग्रहण करनेसे उसका शब्द भी गृहीत हो जाता है। वह (दूसरा) दृष्टान्त ऐसा है कि जैसे मुँहसे फूँके जाते हुए शङ्खके बाह्य शब्दोंको ग्रहण करनेमें कोई समर्थ नहीं होता, किंतु शङ्ख या शङ्खके बजानेको ग्रहण करनेसे उस शब्दका भी ग्रहण हो जाता है। वह [तीसरा] दृष्टान्त ऐसा है कि जैसे बजायी जाती हुई वीणाके बाह्य शब्दोंको ग्रहण करनेमें कोई समर्थ नहीं होता, किंतु वीणा या वीणाके बजानेको ग्रहण करनेसे उस शब्दका भी ग्रहण हो जाता है॥ ७—१०॥

वह [चौथा] दृष्टान्त ऐसा है कि जिस प्रकार जिसका ईंधन गीला है, ऐसे आधान किये हुए अग्निसे पृथक् धूएँ निकलते हैं, उसी प्रकार हे मैत्रेयि! ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक (ब्राह्मण-मन्त्र), सूत्र (वैदिक वस्तुसंग्रहवाक्य), सूत्रोंकी व्याख्या, मन्त्रोंकी व्याख्या, इष्ट (यज्ञ), हुत (हवन किया हुआ), आशित (खिलाया हुआ), पायित (पिलाया हुआ), यह लोक, परलोक और सम्पूर्ण भूत हैं—सब इसीके निःश्वास हैं। वह [पाँचवाँ] दृष्टान्त ऐसा है कि जिस प्रकार समस्त जलोंका समुद्र एक अयन (आश्रयस्थान) है, इसी प्रकार समस्त स्पर्शोंका त्वचा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त गन्धोंका दोनों नासिकाएँ एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रसोंका जिह्वा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रूपोंका चक्षु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त शब्दोंका श्रोत्र एक अयन है, इसी प्रकार समस्त संकल्पोंका मन एक अयन है, इसी प्रकार समस्त विद्याओंका हृदय एक अयन है, इसी प्रकार समस्त कर्मोंका दोनों हाथ एक अयन है, इसी प्रकार समस्त आनन्दोंका उपस्थ एक अयन है, इसी प्रकार

समस्त विसर्गोंका पायु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त मार्गोंका दोनों चरण एक अयन है और इसी प्रकार समस्त वेदोंका वाक् एक अयन है॥ ११-१२॥

उसमें [छठा] दृष्टान्त इस प्रकार है—जिस प्रकार नमकका डला भीतर और बाहरसे रहित सम्पूर्ण रसघन ही है, हे मैत्रेयि! उसी प्रकार यह आत्मा अन्तर-बाह्य-भेदसे शून्य सम्पूर्ण प्रज्ञानघन ही है। यह इन भूतोंसे [विशेषरूपसे] उत्थित होकर उन्हींके साथ नष्ट हो जाता है। इस प्रकार मर जानेपर इसकी संज्ञा नहीं रहती। हे मैत्रेयि! इस प्रकार मैं कहता हूँ—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा॥ १३॥

वह मैत्रेयी बोली, 'यहीं श्रीमान्ने मुझे मोहको प्राप्त करा दिया है। मैं इसे विशेषरूपसे नहीं समझती।' उन्होंने कहा, 'अरी मैत्रेयि! मैं मोहकी बात नहीं कह रहा हूँ। अरी! यह आत्मा निश्चय ही अविनाशी और अनुच्छेदरूप धर्मवाला है॥ १४॥

जहाँ [अविद्यावस्थामें] द्वैत-सा होता है, वहीं अन्य अन्यको देखता है, अन्य अन्यको सूँघता है, अन्य अन्यका रसास्वादन करता है, अन्य अन्यका अभिवादन करता है, अन्यका अन्यको सुनता है, अन्य अन्यका मनन करता है, अन्य अन्यका स्पर्श करता है और अन्य अन्यको विशेषरूपसे जानता है। किंतु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसका रसास्वादन करे, किसके द्वारा किसका अभिवादन करे, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किसका मनन करे, किसके द्वारा किसका स्पर्श करे और किसके द्वारा किसे जाने? जिसके द्वारा पुरुष इस सबको जानता है, उसे किस साधनसे जाने? वह यह 'नेति-नेति' इस प्रकार निर्देश किया गया आत्मा अगृह्य है—उसका ग्रहण नहीं किया जाता; अशीर्य है—उसका विनाश नहीं होता; असङ्ग है—आसक्त नहीं होता; अबद्ध है—वह व्यथित और क्षीण नहीं होता। हे मैत्रेयि! विज्ञाताको किसके द्वारा जाने? इस प्रकार तुझे उपदेश कर दिया गया। अरी मैत्रेयि! निश्चय जान, इतना ही अमृतत्व है।' ऐसा कहकर याज्ञवल्क्यजी परिव्राजक (संन्यासी) हो गये॥ १५॥

षष्ठ ब्राह्मण

याज्ञवल्कीय काण्डकी परम्परा

अब [याज्ञवल्कीय काण्डका] वंश बतलाया जाता है—पौतिमाष्यने गौपवनसे, गौपवनने पौतिमाष्यसे, पौतिमाष्यने गौपवनसे, गौपवनने कौशिकसे, कौशिकने कौण्डिन्यसे, कौण्डिन्यने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने कौशिकसे और गौतमसे तथा गौतमने आग्निवेश्यसे, आग्निवेश्यने गार्ग्यसे, गार्ग्यने गार्ग्यसे, गार्ग्यने गौतमसे, गौतमने सैतवसे, सैतवने पाराशर्यायणसे, पाराशर्यायणने गार्ग्यायणसे, गार्ग्यायणने उद्दालकायनसे, उद्दालकायनने जाबालायनसे, जाबालायनने माध्यन्दिनायनसे, माध्यन्दिनायनने सौकरायणसे, सौकरायणने काषायणसे, काषायणने सायकायनसे, सायकायनने कौशिकायनिसे, कौशिकायनिने घृतकौशिकसे, घृतकौशिकने पाराशर्यायणसे, पाराशर्यायणने पाराशर्यसे, पाराशर्यने जातूकर्ण्यसे, जातूकर्ण्यने आसुरायणसे और यास्कसे, आसुरायणने त्रैवणिसे, त्रैवणिने औपजङ्घनिसे, औपजङ्घनिने आसुरिसे, आसुरिने भारद्वाजसे, भारद्वाजने आत्रेयसे, आत्रेयने माण्टिसे, माण्टिने गौतमसे, गौतमने गौतमसे, गौतमने वात्स्यसे, वात्स्यने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने कैशोर्य काप्यसे, कैशोर्य काप्यने कुमारहारितसे, कुमारहारितने गालवसे, गालवने विदर्भीकौण्डिन्यसे, विदर्भीकौण्डिन्यने वत्सनपाद् बाभ्रवसे, वत्सनपाद् बाभ्रवने पन्था सौभरसे, पन्था सौभरने अयास्य आङ्गिरससे, अयास्य आंगिरसने आभूति त्वाष्ट्रसे, आभूति त्वाष्ट्रने विश्वरूप त्वाष्ट्रसे, विश्वरूप त्वाष्ट्रने अश्विनीकुमारोंसे, अश्विनीकुमारोंने दध्यङ्ङाथर्वणसे, दध्यङ्ङाथर्वणने अथर्वा दैवसे, अथर्वा दैवने मृत्यु प्राध्वंसनसे, मृत्यु प्राध्वंसनने प्रध्वंसनसे, प्रध्वंसनने एकर्षिसे, एकर्षिने विप्रचित्तिसे, विप्रचित्तिने व्यष्टिसे, व्यष्टिने सनारुसे, सनारुने सनातनसे, सनातनने सनगसे, सनगने परमेष्ठीसे, परमेष्ठीने ब्रह्मासे [यह विद्या प्राप्त की]। ब्रह्मा स्वयम्भू है; ब्रह्माको नमस्कार है॥ १—३॥

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त॥ ४॥

ॐ

पञ्चम अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

आकाशकी ब्रह्मरूपमें उपासना

वह परब्रह्म पूर्ण है और यह (जगत् भी) पूर्ण है। उस पूर्णब्रह्मसे ही यह पूर्ण उत्पन्न होता है। इस पूर्णके पूर्णको निकाल लेनेपर भी पूर्ण ही बच रहता है। आकाशब्रह्म ॐकार है। आकाश [यहाँ जड नहीं], सनातन [परमात्मा] है। 'जिसमें वायु रहता है, वह आकाश ही ख है'—ऐसा कौरव्यायणीपुत्रने कहा है। यह ओङ्कार वेद है—ऐसा ब्राह्मण जानते हैं; क्योंकि जो ज्ञातव्य है, उसका इसीसे ज्ञान होता है॥ १॥

द्वितीय ब्राह्मण

'द-द-द' से दम-दान और दयाका उपदेश

देव, मनुष्य और असुर—प्रजापतिके इन तीन पुत्रोंने पिता प्रजापतिके यहाँ ब्रह्मचर्यवास किया। ब्रह्मचर्यवास कर चुकनेपर देवोंने कहा—'आप हमें उपदेश कीजिये।' उनसे प्रजापतिने 'द' यह अक्षर कहा और पूछा, 'समझ गये क्या?' इसपर 'उन्होंने कहा, "समझ गये; आपने हमसे 'दमन करो' ऐसा कहा है।" तब प्रजापतिने कहा, 'ठीक है, तुम समझ गये'॥ १॥

फिर प्रजापतिसे मनुष्योंने कहा—'आप हमें उपदेश कीजिये।' उनसे भी प्रजापतिने 'द' यह अक्षर ही कहा और पूछा, 'समझ गये क्या?' मनुष्योंने कहा, "समझ गये; आपने हमसे 'दान करो' ऐसा कहा है।" तब प्रजापतिने 'हाँ, समझ गये' ऐसा कहा॥ २॥

फिर प्रजापतिसे असुरोंने कहा—'आप हमें उपदेश कीजिये।' उनसे भी प्रजापतिने 'द' यह अक्षर ही कहा और पूछा, 'समझ गये क्या?' असुरोंने कहा, "समझ गये; आपने हमसे 'दया करो' ऐसा कहा है।" तब प्रजापतिने 'हाँ, समझ गये' ऐसा कहा। इस प्रजापतिके अनुशासनकी मेघगर्जनारूपी दैवी वाणी आज भी द-द-द—इस प्रकार अनुवाद करती है अर्थात् भोगप्रधान देवो! इन्द्रियोंका दमन करो, संग्रहप्रधान मनुष्यो! भोगसामग्रीका दान करो, क्रोध-हिंसाप्रधान असुरो! जीवोंपर दया करो—यों कहती है। अतः दम, दान और दया—इन तीनोंको सीखे॥ ३॥

तृतीय ब्राह्मण

हृदयकी ब्रह्मरूपसे उपासना

जो हृदय है, वह प्रजापति है। यह ब्रह्म है, यह सर्व है, यह हृदय तीन अक्षरवाला नाम है। 'ह' यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, उसके प्रति स्वजन और अन्य जन बलि समर्पण करते हैं। 'द' यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, उसे स्वजन और अन्यजन देते हैं। 'यम्' यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, वह स्वर्गलोकको जाता है॥ १॥

चतुर्थ ब्राह्मण

सत्यकी ब्रह्मरूपसे उपासना

वही—वह हृदय-ब्रह्म ही वह था—जो कि सत्य ही है। जो भी इस महत्, यक्ष (पूज्य), सर्वप्रथम उत्पन्न होनेवालेको यह 'सत्य ब्रह्म है' ऐसा जानता है, वह इन लोकोंको जीत लेता है। [उसका शत्रु] उसके अधीन

हो जाता है—असत् (अभावरूप) हो जाता है। जो इस प्रकार इस महत्, यक्ष (पूजनीय), प्रथम उत्पन्न होने-वालेको 'सत्य ब्रह्म'—इस प्रकार जानता है [उसे उपर्युक्त फल मिलता है]; क्योंकि ब्रह्म सत्य ही है॥ १॥

पञ्चम ब्राह्मण

सत्यकी आदित्यरूपमें उपासना

यह [व्यक्त जगत्] पहले आप (जल) ही था! उस आपने सत्यकी रचना की। अतः सत्य ब्रह्म है। ब्रह्मने प्रजापति (विराट्)-को और प्रजापतिने देवताओंको उत्पन्न किया। वे देवगण सत्यकी ही उपासना करते हैं। वह यह 'सत्य' तीन अक्षरवाला नाम है। 'स' यह एक अक्षर है, 'ति' यह एक अक्षर है और 'यम्' यह एक अक्षर है। इनमें प्रथम और अन्तिम अक्षर सत्य है और मध्यका अनृत है। वह यह अनृत दोनों ओरसे सत्यसे परिगृहीत है। इसलिये यह सत्य-बहुल ही है। इस प्रकार जाननेवालेको अनृत नहीं मारता। वह जो सत्य है, सो यह आदित्य है। जो इस आदित्यमण्डलमें पुरुष है और जो भी यह दक्षिण नेत्रमें पुरुष है, वे ये दोनों पुरुष एक-दूसरेमें प्रतिष्ठित हैं। आदित्य रश्मियोंके द्वारा चाक्षुष पुरुषमें प्रतिष्ठित है और चाक्षुष पुरुष प्राणोंके द्वारा उसमें प्रतिष्ठित है। जिस समय यह (चाक्षुष पुरुष) उत्क्रमण करने लगता है, उस समय यह इस मण्डलको शुद्ध ही देखता है। फिर ये रश्मियाँ इसके पास नहीं आतीं॥ १-२॥

इस मण्डलमें जो यह पुरुष है, उसका 'भूः' यह सिर है; सिर एक है और यह अक्षर भी एक है। 'भुवः' यह भुजा है; भुजाएँ दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं। 'स्वः' यह प्रतिष्ठा (चरण) है; प्रतिष्ठा (चरण) दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं। 'अहर्' यह उसका उपनिषद् (गूढ नाम) है; जो ऐसा जानता है, वह पापको मारता है और उसे त्याग देता है। जो यह दक्षिण नेत्रमें पुरुष है, उसका 'भूः' यह सिर है; सिर एक है और यह अक्षर भी एक है। 'भुवः' यह भुजा है; भुजाएँ दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं। 'स्वः' यह प्रतिष्ठा है; प्रतिष्ठा (चरण) दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं। 'अहम्' यह उसका उपनिषद् (गूढ़ नाम) है; जो ऐसा जानता है, वह पापको मारता और त्याग देता है॥ ३-४॥

षष्ठ ब्राह्मण

मनोमय पुरुषकी उपासना

प्रकाश ही जिसका सत्य (स्वरूप) है, ऐसा यह पुरुष मनोमय है। वह उस अन्तर्हृदयमें जैसा व्रीहि (धान) या यव (जौ) होता है, उतने ही परिमाणवाला है। वह यह सबका स्वामी और सबका अधिपति है तथा यह जो कुछ है, सभीका प्रकर्षतया शासन करता है॥ १॥

सप्तम ब्राह्मण

विद्युत्की ब्रह्मरूपमें उपासना

विद्युत् ब्रह्म है—ऐसा कहते हैं। विदान (खण्डन या विनाश) करनेके कारण विद्युत् है। जो 'विद्युत् ब्रह्म है' ऐसा जानता है, वह इस आत्माके प्रतिकूलभूत पापोंका नाश कर देता है; क्योंकि विद्युत् ही ब्रह्म है॥ १॥

अष्टम ब्राह्मण

वाक्की धेनुरूपमें उपासना

वाक्रूप धेनुकी उपासना करे। उसके चार स्तन हैं—स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार और स्वधाकार। उसके दो स्तन स्वाहाकार और वषट्कारके भोक्ता देवगण हैं, हन्तकारके भोक्ता मनुष्य हैं और स्वधाकारके भोक्ता पितृगण। उस धेनुका प्राण वृषभ है और मन बछड़ा है॥ १॥

नवम ब्राह्मण

अन्तरस्थ वैश्वानर अग्नि

जो यह पुरुषके भीतर है, यह अग्नि वैश्वानर है, जिससे कि यह अन्न, जो कि भक्षण किया जाता है, पकाया जाता है। उसीका यह घोष होता है, जिसे पुरुष कानोंको मूँदकर सुनता है। जिस समय पुरुष उत्क्रमण करनेवाला होता है, उस समय इस घोषको नहीं सुनता॥ १॥

दशम ब्राह्मण

मरणोत्तर ऊर्ध्वगतिका वर्णन

जिस समय यह पुरुष इस लोकसे मरकर जाता है, उस समय वह वायुको प्राप्त होता है। वहाँ वह वायु उसके लिये छिद्रयुक्त हो जाता—मार्ग दे देता है, जैसा कि रथके पहियेका छिद्र होता है। उसके द्वारा वह ऊर्ध्व होकर चढ़ता है। वह सूर्यलोकमें पहुँच जाता है। वहाँ सूर्य उसके लिये वैसा ही छिद्ररूप मार्ग देता है, जैसा कि लम्बर नामके बाजेका छिद्र होता है। उसमें होकर वह ऊपरकी ओर चढ़ता है। वह चन्द्रलोकमें पहुँच जाता है। वहाँ चन्द्रमा भी उसके लिये छिद्रयुक्त हो मार्ग देता है, जैसा कि दुन्दुभिका छिद्र होता है। उसके द्वारा वह ऊपरकी ओर चढ़ता है। वह अशोक (शारीरिक दुःखसे रहित) और अहिम (मानसिक दुःखशून्य)-लोकमें पहुँच जाता है और उसमें सदा—अनन्त कालतक अर्थात् ब्रह्माके अनेक कल्पोंतक निवास करता है॥ १॥

एकादश ब्राह्मण

व्याधिमें और मृत पुरुषके श्मशान-गमन आदिमें तपकी भावनाका फल

व्याधियुक्त पुरुषको जो ताप होता है, वह निश्चय ही परम तप है; जो ऐसा जानता है, वह परम लोकको ही जीत लेता है। मृत पुरुषको जो वनको ले जाते हैं, यह निश्चय ही परम तप है; जो ऐसा जानता है, वह परम लोकको ही जीत लेता है। मरे हुए मनुष्यको सब प्रकार जो अग्निमें रखते हैं, यह निश्चय ही परम तप है; जो ऐसा जानता है, वह परम लोकको ही जीत लेता है॥ १॥

द्वादश ब्राह्मण

अन्न एवं प्राणकी ब्रह्मरूपमें उपासना

कोई कहते हैं कि अन्न ब्रह्म है; किंतु ऐसी बात नहीं है; क्योंकि प्राणके बिना अन्न सड़ जाता है। कोई कहते हैं—प्राण ब्रह्म है; किंतु ऐसी बात नहीं है; क्योंकि अन्नके बिना प्राण सूख जाता है। परंतु ये दोनों देव एकरूपताको प्राप्त होकर परम भावको प्राप्त होते हैं—ऐसा निश्चयकर प्रातृद ऋषिने अपने पितासे कहा था—'इस प्रकार जाननेवालेका मैं क्या शुभ करूँ अथवा क्या अशुभ करूँ? [क्योंकि कृतकृत्य हो जानेके कारण उसका तो न कोई शुभ किया जा सकता है और न अशुभ ही।]' पिताने हाथसे निवारण करते हुए कहा—'प्रातृद! ऐसा मत कहो। इन दोनोंकी एकरूपताको प्राप्त होकर कौन परमताको प्राप्त होता है?' अतः उससे उस (प्रातृदके पिता)-ने 'वि' ऐसा कहा। 'वि' यही अन्न है। वि-रूप अन्नमें ही ये सब भूत प्रविष्ट हैं। 'रम्' यह प्राण है, क्योंकि रं अर्थात् प्राणमें ही ये सब भूत रमण करते हैं। जो ऐसा जानता है, उसमें ये सब भूत प्रविष्ट होते हैं और सभी भूत रमण करते हैं॥ १॥

त्रयोदश ब्राह्मण

प्राणकी विविध रूपोंमें उपासना

'उक्थ' इस प्रकार प्राणकी उपासना करे। प्राण ही उक्थ है; क्योंकि प्राण ही सब इन्द्रियोंको उत्थापित करता है। इस उपासकसे उक्थवेत्ता पुत्र उत्पन्न होता है। जो ऐसी उपासना करता है, वह प्राणके सायुज्य और सालोक्यको प्राप्त करता है। 'यजुः' इस प्रकार प्राणकी उपासना करे। प्राण ही यजु है, क्योंकि प्राणमें ही इन सब भूतोंका योग होता है। सम्पूर्ण भूत इसकी श्रेष्ठताके कारण इससे संयुक्त होते हैं। जो ऐसी उपासना करता है, वह यजुके सायुज्य और सलोकताको प्राप्त होता है। 'साम' इस प्रकार प्राणकी उपासना करे। प्राण ही साम है; क्योंकि प्राणमें ही ये सब भूत सुसंगत होते हैं। समस्त भूत उसके लिये सुसंगत होते हैं तथा उसकी श्रेष्ठतामें कारण होते हैं। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह सामके सायुज्य और सलोकताको प्राप्त होता है। प्राण 'क्षत्र' है—इस प्रकार प्राणकी उपासना करे। प्राण ही क्षत्र है। प्राण ही क्षत्र है—यह प्रसिद्ध है। प्राण इस देहकी शस्त्रादिजनित क्षतसे रक्षा करता है। अत्रम्—अन्य किसीसे त्राण न पानेवाले क्षत्र (प्राण)-को प्राप्त होता है। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह क्षत्रके सायुज्य और सलोकताको जीत (प्राप्त कर) लेता है॥ १—४॥

चतुर्दश ब्राह्मण

गायत्री-उपासना

भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ—ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरवाला ही गायत्रीका एक (प्रथम) पाद है। यह (भूमि आदि) ही इस गायत्रीका प्रथम पाद है। इस प्रकार इसके इस पादको जो जानता है, वह इस त्रिलोकीमें जितना कुछ है, उस सबको जीत (प्राप्त कर) लेता है। '**ऋचः, यजूंषि, सामानि**'—ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरवाला ही गायत्रीका एक (द्वितीय) पाद है। यह (ऋक् आदि) ही इस गायत्रीका द्वितीय पाद है। जो इस प्रकार इसके इस पादको जानता है, वह जितनी यह त्रयीविद्या है (अर्थात् त्रयीविद्याका जितना फल है,) उस सभीको जीत लेता है। प्राण, अपान, व्यान—ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरवाला ही गायत्रीका एक (तृतीय) पाद है। यह प्राणादि ही इस गायत्रीका 'तृतीय' पाद है। जो गायत्रीके इस पादको इस प्रकार जानता है, वह जितना यह प्राणिसमुदाय है, सबको जीत लेता है और यह जो तपता (प्रकाशित होता) है वही इसका तुरीय, दर्शत, परोरजा पद है। जो चतुर्थ होता है, वह 'तुरीय' कहलाता है। '**दर्शतं पदम्**' इसका अर्थ है—मानो [यह आदिमण्डलस्थ पुरुष] दीखता है। '**परोरजाः**' इसका अर्थ है—यह सभी रज (यानी लोकों)-के ऊपर-ऊपर रहकर प्रकाशित होता है। जो गायत्रीके इस चतुर्थ पादको इस प्रकार जानता है, वह इसी प्रकार शोभा और कीर्तिसे प्रकाशित होता है। वह यह गायत्री इस चतुर्थ दर्शत परोरजा पदमें प्रतिष्ठित है। वह पद सत्यमें प्रतिष्ठित है। चक्षु ही सत्य है, चक्षु ही सत्य है—यह प्रसिद्ध है। इसीसे यदि दो पुरुष 'मैंने देखा है', 'मैंने सुना है' इस प्रकार विवाद करते हुए आयें तो जो यह कहता होगा कि 'मैंने देखा है' उसीका हमें विश्वास होगा। वह तुरीय पादका आश्रयभूत सत्य बलमें प्रतिष्ठित है। प्राण ही बल है, वह सत्य प्राणमें प्रतिष्ठित है। इसीसे कहते हैं कि सत्यकी अपेक्षा बल ओजस्वी है। इस प्रकार यह गायत्री अध्यात्म-प्राणमें प्रतिष्ठित है। इस पूर्वोक्त गायत्रीने गयोंका त्राण किया था। प्राण ही गय हैं, उन प्राणोंका इसने त्राण किया। इसने गयोंका त्राण किया था, इसीसे इसका 'गायत्री' नाम हुआ। आचार्यने आठ वर्षके वटुके प्रति उपनयनके समय जिस सावित्रीका उपदेश किया था, वह यही है। वह जिस-जिस वटुको इसका उपदेश करता है, यह उसके-उसके प्राणोंकी रक्षा करती है॥ १—४॥

कोई शाखावाले इस पूर्वोक्त अनुष्टुप् छन्दवाली सावित्रीका उपदेश करते हैं (गायत्रीछन्दवाली सावित्रीका उपदेश न करके अनुष्टुप्छन्द*की सावित्रीका उपदेश

* अनुष्टुप्छन्द चार पादोंका होता है और गायत्रीछन्द तीन पादोंका। दोनोंके पाद आठ-आठ अक्षरके ही होते हैं। अनुष्टुप्छन्दमें

करते हैं)। वे कहते हैं कि वाक् अनुष्टुप् है, इसलिये हम वाक्का ही उपदेश करते हैं। किंतु ऐसा नहीं करना चाहिये। गायत्रीछन्दवाली सावित्रीका ही उपदेश करे। ऐसा जाननेवाला जो बहुत-सा भी प्रतिग्रह करे तो भी वह गायत्रीके एक पादके बराबर भी नहीं हो सकता॥ ५॥

जो इन तीन पूर्ण लोकोंका प्रतिग्रह करता है, उसका वह (प्रतिग्रह) इस गायत्रीके इस प्रथम पादको व्याप्त करता है। और जितनी यह त्रयीविद्या है, उसका जो प्रतिग्रह करता है, वह (प्रतिग्रह) इसके इस द्वितीय पादको व्याप्त करता है। और जितने ये प्राणी हैं, उनका जो प्रतिग्रह करता है, वह (प्रतिग्रह) इसके इस तृतीय पदको व्याप्त करता है। और यही इसका तुरीय दर्शत परोरजा पद है, जो कि यह तपता है; यह किसीके द्वारा प्राप्य नहीं है, क्योंकि इतना प्रतिग्रह कोई कहाँसे कर सकता है?॥ ६॥

उस गायत्रीका उपस्थान—हे गायत्रि! तू [त्रैलोक्यरूप प्रथम पादसे] एकपदी है, [तीनों वेदरूप द्वितीय पादसे] द्विपदी है, [प्राण, अपान और व्यानरूप तीसरे पादसे] त्रिपदी है [और तुरीय पादसे] चतुष्पदी है। [इन सबसे परे निरुपाधिक स्वरूपसे तू] अपद है; क्योंकि तू जानी नहीं जाती। अतः व्यवहारके अविषयभूत एवं समस्त लोकोंसे ऊपर विराजमान तेरे दर्शनीय तुरीय पदको नमस्कार है। यह पापरूपी शत्रु इस [विघ्नाचरणरूप] कार्यमें सफलता नहीं प्राप्त करे। इस प्रकार यह (विद्वान्) जिससे द्वेष करता हो, 'उसकी कामना पूर्ण न हो' ऐसा कहकर उपस्थान करे। जिसके लिये इस प्रकार उपस्थान किया जाता है, उसकी कामना पूर्ण नहीं होती अथवा 'मैं इस वस्तुको प्राप्त करूँ' ऐसी कामनासे उपस्थान करे॥ ७॥

उस विदेह जनकने बुडिल अश्वतराश्विसे यही बात कही थी कि 'तूने जो अपनेको गायत्रीविद् (गायत्री-तत्त्वका ज्ञाता) कहा था तो फिर [प्रतिग्रहके दोषसे] हाथी होकर भार क्यों ढोता है?' इसपर उसने 'सम्राट्! मैं इसका मुख ही नहीं जानता था' ऐसा कहा। [तब जनकने कहा—] 'इसका अग्नि ही मुख है। यदि अग्निमें लोग बहुत-सा ईंधन रख दें तो वह उस सभीको जला डालता है। इसी प्रकार ऐसा जाननेवाला बहुत-सा पाप करता रहा हो तो भी वह उस सबको भक्षण करके शुद्ध, पवित्र, अजर, अमर हो जाता है'॥ ८॥

पञ्चदश ब्राह्मण

अन्तसमयकी प्रार्थना

हे सबका भरण-पोषण करनेवाले परमेश्वर! आप सत्यस्वरूप सर्वेश्वरका श्रीमुख ज्योतिर्मय सूर्यमण्डलरूप पात्रसे ढका हुआ है। आपकी भक्तिरूप सत्यधर्मका अनुष्ठान करेनेवाले मुझको अपने दर्शन करानेके लिये आप उस आवरणको हटा लीजिये। हे भक्तोंका पोषण करनेवाले! मुख्य ज्ञानस्वरूप! सबके नियन्ता! भक्तों और ज्ञानियोंके परम लक्ष्य! प्रजापतिके प्रिय! इन रश्मियोंको एकत्र कीजिये—हटा लीजिये; इस तेजको समेट लीजिये। आपका जो अतिशय कल्याणमय दिव्य स्वरूप है, उसको मैं आपकी कृपासे [ध्यानके द्वारा] देख रहा हूँ। वह जो (सूर्यका आत्मा) है, वह परम पुरुष [आपका स्वरूप है;] वही मैं भी हूँ। अब ये प्राण और इन्द्रियाँ अविनाशी समष्टि वायुतत्त्वमें [प्रविष्ट हो जायँ], यह स्थूलशरीर अग्निमें जलकर भस्मरूप [हो जाय]। हे सच्चिदानन्दघन यज्ञमय भगवन्! [आप मुझ भक्तका] स्मरण करें, मेरे द्वारा किये हुए (भक्तिरूप) कर्मोंका स्मरण करें। हे यज्ञमय भगवन्! [आप मुझ भक्तको] स्मरण करें, (मेरे) कर्मोंको स्मरण करें। हे अग्नि! (अग्निके अधिष्ठातृ देवता) हमें परम धनरूप परमेश्वरकी सेवामें पहुँचानेके लिये सुन्दर शुभ (उत्तरायण) मार्गसे ले चलिये। हे देव! [आप हमारे] सम्पूर्ण कर्मोंको जाननेवाले हैं, अतः हमारे इस मार्गके प्रतिबन्धक पापको दूर कर दीजिये। आपको हम बार-बार नमस्कार करते हैं॥ १॥

॥ पञ्चम अध्याय समाप्त॥ ५॥

जो मन्त्र उपलब्ध होता है, उसका भी देवता सविता ही है; इसलिये कुछ लोग उसे ही सावित्री कहते हैं। अनुष्टुप्छन्दवाला मन्त्र इस प्रकार है—'तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्। श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि।'

ॐ

षष्ठ अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

प्राणकी सर्वश्रेष्ठता

जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठको जानता है, वह अपने ज्ञातिजनोंमें ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। जो ऐसी उपासना करता है, वह अपने ज्ञातिजनोंमें तथा और जिनमें होना चाहता है, उनमें भी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। जो वसिष्ठाको जानता है, वह स्वजनोंमें वसिष्ठ होता है। वाक् ही वसिष्ठा है। जो ऐसी उपासना करता है, वह स्वजनोंमें तथा और जिनमें चाहता है, उनमें वसिष्ठ होता है। जो प्रतिष्ठाको जानता है, वह समान देश-कालमें प्रतिष्ठित होता है और दुर्गममें भी प्रतिष्ठित होता है। चक्षु ही प्रतिष्ठा है। चक्षुसे ही समान और दुर्गम देश-कालमें प्रतिष्ठित होता है। जो ऐसी उपासना करता है, वह समान और दुर्गममें प्रतिष्ठित होता है। जो सम्पद्को जानता है, वह जिस भोगकी इच्छा करता है, वही उसे सम्यक् प्रकारसे प्राप्त हो जाता है। श्रोत्र ही सम्पद् है। श्रोत्रमें ही ये सब वेद सब प्रकार निष्पन्न हैं। जो ऐसी उपासना करता है, वह जिस भोगकी इच्छा करता है, वही उसे सम्यक् प्रकारसे प्राप्त हो जाता है। जो आयतनको जानता है, वह स्वजनोंका आयतन (आश्रय) होता है तथा अन्य जनोंका भी आयतन होता है। मन ही आयतन है। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह स्वजनोंका आयतन होता है तथा अन्य जनोंका भी आयतन होता है। जो भी प्रजातिको जानता है, वह प्रजा—सन्तान और पशुओंद्वारा प्रजात (वृद्धिको प्राप्त) होता है। रेतस् ही प्रजाति है। जो ऐसा जानता है, वह प्रजा और पशुओंद्वारा प्रजात होता है॥ १—६॥

ये पूर्वोक्त प्राण (इन्द्रिय, मन आदि) 'मैं श्रेष्ठ हूँ', 'मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार विवाद करते हुए ब्रह्माके पास गये। उससे बोले, 'हममें कौन वसिष्ठ है?' उसने कहा, 'तुममेंसे जिसके उत्क्रमण करनेपर (शरीरसे पृथक् हो जानेपर) यह शरीर अपनेको अधिक पापी मानता है, वही तुममें वसिष्ठ है'॥ ७॥

[पहले] वाक्ने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष बाहर रहकर लौटकर कहा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके थे?' यह सुनकर उन्होंने कहा, 'जैसे गूँगे मनुष्य वाणीसे न बोलते हुए भी प्राणसे प्राणक्रिया करते, नेत्रसे देखते, श्रोत्रसे सुनते, मनसे जानते और रेतस्से प्रजा (सन्तान)-की उत्पत्ति करते हुए [जीवित रहते हैं,] वैसे ही हम जीवित रहे।' यह सुनकर वाक्ने शरीरमें प्रवेश किया। चक्षुने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष बाहर रहकर लौटकर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके थे?' वे बोले—'जिस प्रकार अन्धे लोग नेत्रसे न देखते हुए प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, श्रोत्रसे सुनते, मनसे जानते और रेतस्से प्रजा उत्पन्न करते हुए [जीवित रहते हैं,] उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर चक्षुने प्रवेश किया। श्रोत्रने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष बाहर रहकर लौटकर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके थे?' वे बोले—'जिस प्रकार बहरे आदमी कानोंसे न सुनते हुए भी प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते, मनसे जानते और रेतस्से प्रजा उत्पन्न करते हुए [जीवित रहते हैं] उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर श्रोत्रने प्रवेश किया। मनने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष बाहर रहकर लौटकर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके थे?' वे बोले, 'जिस प्रकार मुग्ध पुरुष मनसे न समझते हुए भी प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते, कानसे सुनते और रेतस्से प्रजा उत्पन्न करते हुए [जीवित रहते हैं,] उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर मनने शरीरमें प्रवेश किया। रेतस्ने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष बाहर रहकर फिर लौटकर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके थे?' वे बोले, 'जिस प्रकार नपुंसकलोग रेतस्से प्रजा उत्पन्न न करते हुए प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते, श्रोत्रसे सुनते और मनसे जानते हुए [जीवित रहते हैं,] उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर

वीर्यने शरीरमें प्रवेश किया। फिर प्राण उत्क्रमण करने लगा तो जिस प्रकार सिन्धुदेशीय महान् अश्व पैर बाँधनेके खूँटोंको उखाड़ डालता है, उसी प्रकार वह इन सब प्राणों (इन्द्रियों)-को स्थानच्युत करने लगा। उन्होंने कहा, 'भगवन्! आप उत्क्रमण न करें, आपके बिना हम जीवित नहीं रह सकते।' प्राणने कहा, 'अच्छा, तो मुझे बलि (भेंट) दिया करो।' [इन्द्रियोंने कहा—] 'बहुत अच्छा'॥ ८—१३॥

उस वागिन्द्रियने कहा, 'मैं जो वसिष्ठा हूँ, सो तुम ही उस वसिष्ठगुणसे युक्त हो।' 'मैं जो प्रतिष्ठा हूँ, सो तुम ही उस प्रतिष्ठासे युक्त हो' ऐसा नेत्रने कहा। 'मैं जो सम्पद् हूँ, सो तुम ही उस सम्पद्से युक्त हो' ऐसा श्रोत्रने कहा। 'मैं जो आयतन हूँ, सो तुम्हीं वह आयतन हो' ऐसा मनने कहा। 'मैं जो प्रजाति हूँ, सो तुम ही उस प्रजातिसे युक्त हो' ऐसा रेतस्ने कहा। [प्राणने कहा—] 'किंतु ऐसे गुणोंसे युक्त मेरा अन्न क्या है और वस्त्र क्या है?' [वागादि बोले—] 'कुत्ते, कृमि और कीट-पतङ्गोंसे लेकर यह जो कुछ भी है, वह सब तुम्हारा अन्न है और जल ही वस्त्र है।' [उपासनाका फल—] 'जो इस प्रकार प्राणके अन्नको जानता है, उसके द्वारा अभक्ष्य-भक्षण नहीं होता और अभक्ष्यका प्रतिग्रह (संग्रह) भी नहीं होता। ऐसा जाननेवाले श्रोत्रिय भोजन करनेसे पूर्व आचमन करते हैं तथा भोजन करके आचमन करते हैं। इसीको वे उस प्राणको अनग्न (वस्त्रयुक्त) करना मानते हैं'॥ १४॥

द्वितीय ब्राह्मण

पञ्चाग्निविद्या और उसे जाननेका फल; त्रिविध गतिका वर्णन

प्रसिद्ध है कि आरुणिका पुत्र श्वेतकेतु पञ्चालोंकी सभामें आया। वह जीवलके पुत्र प्रवाहणके पास पहुँचा, जो [सेवकोंसे] परिचर्या करा रहा था। उसे देखकर प्रवाहणने कहा, 'ओ कुमार!' वह बोला, 'जी!' [प्रवाहण—] 'क्या पिताने तुझे शिक्षा दी है?' तब श्वेतकेतुने 'हाँ!' ऐसा उत्तर दिया॥ १॥

'जिस प्रकार मरनेपर यह प्रजा विभिन्न मार्गोंसे जाती है—सो क्या तू जानता है?' श्वेतकेतु बोला, 'नहीं!' [राजा—] 'जिस प्रकार वह पुनः इस लोकमें आती है—सो क्या तुझे मालूम है?' 'नहीं,' ऐसा श्वेतकेतुने उत्तर दिया। [राजा—] 'इस प्रकार पुनः-पुनः बहुतोंके मरकर जानेपर भी जिस प्रकार वह लोक भरता नहीं है—सो क्या तू जानता है?' 'नहीं,' ऐसा उसने कहा। (राजा—) 'क्या तू जानता है कि कितने बारकी आहुतिके हवन करनेपर आप (जल) पुरुष-शब्दवाच्य हो उठकर बोलने लगता है?' 'नहीं,' ऐसा श्वेतकेतुने कहा। 'क्या तू देवयानमार्गका कर्मरूप साधन अथवा पितृयानका कर्मरूप साधन जानता है, जिसे करके लोग देवयानमार्गको प्राप्त होते हैं अथवा पितृयानमार्गको? हमने तो मन्त्रका यह वचन सुना है—मैंने पितरोंका और देवोंका, इस प्रकार दो मार्ग सुने हैं; ये दोनों मनुष्योंसे सम्बन्ध रखनेवाले मार्ग हैं। इन दोनों मार्गोंसे जानेवाला जगत् सम्यक् प्रकारसे जाता है। तथा ये मार्ग (द्युलोक और पृथिवीरूप) पिता और माताके मध्यमें हैं।' इसपर श्वेतकेतुने 'मैं इनमेंसे एक भी नहीं जानता,' ऐसा उत्तर दिया॥ २॥

फिर राजाने श्वेतकेतुसे ठहरनेके लिये प्रार्थना की। किंतु वह कुमार ठहरनेकी परवा न करके चल दिया। वह सीधा अपने पिताके पास आया और उससे बोला, 'आपने यही कहा था न कि मुझे सब विषयोंकी शिक्षा दे दी गयी है?' [पिता—] 'हे सुन्दर धारणाशक्तिवाले! क्या हुआ?' [पुत्र—] 'मुझसे एक क्षत्रियबन्धुने पाँच प्रश्न पूछे थे, उनमेंसे मैं एकको भी नहीं जानता।' [पिता—] 'वे कौन-से थे?' [पुत्र—] 'ये थे' ऐसा कहकर उसने उन प्रश्नोंके प्रतीक बतलाये॥ ३॥

पिताने कहा, 'हे तात! तू हमारे कथनानुसार ऐसा समझ कि हम जो कुछ जानते थे, वह सब हमने तुझसे कह दिया था। अब हम दोनों वहीं चलें और ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक उसके यहाँ निवास करेंगे।' [पुत्र—] 'आप ही जाइये।' तब वह गौतम जहाँ जैवलि प्रवाहणकी बैठक थी, वहाँ आया। उसके लिये आसन लाकर राजाने जल मँगवाया और उसे अर्घ्यदान किया। फिर बोला, 'मैं पूज्य गौतमको वर देता हूँ।' (आप जिस उद्देश्यसे यहाँ पधारे हैं, वह बतलाइये। मैं उसकी पूर्ति करूँगा।) उसने कहा,

'आपने मुझे जो वर देनेके लिये प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार आपने कुमारसे जो बात पूछी थी, वह मुझसे कहिये।' उसने कहा, 'गौतम! वह वर तो दैव वरोंमेंसे है, तुम मनुष्यसम्बन्धी वरोंमेंसे कोई वर माँगो'॥ ४—६॥

गौतमने कहा, 'आप जानते हैं, वह तो मेरे पास है। मुझे सुवर्ण तथा गौ, अश्व, दासी, परिवार और वस्त्र भी प्राप्त है। आप महान्, अनन्त और निःसीम धनके दाता होकर मेरे लिये अदाता न हों।' [राजा—] 'तो गौतम! तुम शास्त्रोक्त विधिसे उसे पानेकी इच्छा करो।' [गौतम—] 'अच्छा, मैं आपके प्रति शिष्यभावसे उपसन्न (प्राप्त) होता हूँ। पहले ब्राह्मणलोग वाणीसे ही क्षत्रियादिके प्रति उपसन्न होते रहे हैं।' इस प्रकार उपसक्तिका वाणीसे कथनमात्र करके गौतम वहाँ रहने लगा [सेवा आदिके द्वारा नहीं]। उस राजाने कहा, 'गौतम! जिस प्रकार तुम्हारे पितामहोंने हमारे पूर्वजोंका अपराध नहीं माना, उसी प्रकार तुम भी हमारा अपराध न मानना। इससे पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मणके यहाँ नहीं रही। उसे मैं तुम्हारे ही प्रति कहता हूँ। भला, इस प्रकार विनयपूर्वक बोलनेवाले तुमको निषेध करनेमें [विद्या देनेसे अस्वीकार करनेमें] कौन समर्थ हो सकता है?'॥ ७-८॥

गौतम! वह लोक (द्युलोक) ही अग्नि है। उसका आदित्य ही समिध् (ईंधन) है, किरणें धूम हैं, दिन ज्वाला है, दिशाएँ अङ्गार हैं, अवान्तर दिशाएँ विस्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) हैं। उस इस अग्निमें देवगण श्रद्धाको हवन करते हैं; उस आहुतिसे सोम राजा होता है। गौतम! पर्जन्यदेवता ही अग्नि है। उसका संवत्सर ही समिध् है, बादल धूम हैं, विद्युत् ज्वाला है, अशनि (इन्द्रका वज्र) अङ्गार है, मेघ-गर्जन विस्फुलिङ्ग है। उस इस अग्निमें देवगण सोम राजाको हवन करते हैं। उस आहुतिसे वृष्टि होती है। गौतम! यह लोक ही अग्नि है। इसकी पृथिवी ही समिध् है, अग्नि धूम है, रात्रि ज्वाला है, चन्द्रमा अङ्गार है और नक्षत्र विस्फुलिङ्ग हैं। उस इस अग्निमें देवता वृष्टिको होमते हैं, उस आहुतिसे अन्न होता है। गौतम! पुरुष ही अग्नि है। उसका खुला हुआ मुख ही समिध् है, प्राण धूम है, वाक ज्वाला है, नेत्र अङ्गार हैं, श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं। उस इस अग्निमें देवगण अन्नको होमते हैं। उस आहुतिसे वीर्य होता है। गौतम! स्त्री ही अग्नि है। उपस्थ ही उसकी समिध् है, लोम धूम हैं, योनि ज्वाला है, जो मैथुनव्यापार है वह अङ्गार है, आनन्दलेश विस्फुलिङ्ग है। उस इस अग्निमें देवगण वीर्य होमते हैं। उस आहुतिसे पुरुष उत्पन्न होता है। वह जीवित रहता है। जबतक कर्मशेष रहते हैं, वह जीवित रहता है और जब मरता है, तब उसे अग्निके पास ले जाते हैं। उस (आहुतिभूत पुरुष)-का अग्नि ही अग्नि होता है, समिध् समिध् होती है, धूम धूम होता है, ज्वाला ज्वाला होती है, अँगारे अङ्गार होते हैं और विस्फुलिङ्ग विस्फुलिङ्ग होते हैं। उस इस अग्निमें देवगण पुरुषको होमते हैं। उस आहुतिसे पुरुष अत्यन्त दीप्तिमान् हो जाता है॥ ९—१४॥

वे जो [गृहस्थ] इस प्रकार इस (पञ्चाग्निविद्या)-को जानते हैं तथा जो (संन्यासी या वानप्रस्थ) वनमें श्रद्धायुक्त होकर सत्य (सगुण ब्रह्म)-की उपासना करते हैं, वे ज्योतिके अभिमानी देवताओंको प्राप्त होते हैं; ज्योतिके अभिमानी देवताओंसे दिनके अभिमानी देवताको, दिनके अभिमानी देवतासे शुक्लपक्षाभिमानी देवताको और शुक्लपक्षाभिमानी देवतासे जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तरकी ओर रहकर चलता है, उन उत्तरायणके छः महीनोंके अभिमानी देवताओंको [प्राप्त होते हैं]; षण्मासाभिमानी देवताओंसे देवलोकको, देवलोकसे आदित्यको और आदित्यसे विद्युत्सम्बन्धी देवताओंको प्राप्त होते हैं। उन वैद्युत देवोंके पास एक मानस पुरुष आकर इन्हें ब्रह्मलोकोंमें ले जाता है। वे उन ब्रह्मलोकोंमें अनन्त संवत्सरपर्यन्त रहते [भगवान्‌को प्राप्त हो जाते-] हैं! उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती॥ १५॥

और जो [सकाम] यज्ञ, दान, तपके द्वारा लोकोंको जीतते हैं, वे धूम (धूमाभिमानी देवता)-को प्राप्त होते हैं; धूमसे रात्रिदेवताको, रात्रिसे अपक्षीयमाणपक्ष (कृष्णपक्षाभिमानी देवता)-को, अपक्षीयमाणपक्षसे जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिणकी ओर होकर जाता है, उन छः मासके देवताओंको, छः मासके देवताओंसे पितृलोकको और पितृलोकसे चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं। चन्द्रमामें पहुँचकर वे अन्न हो जाते हैं। वहाँ जैसे ऋत्विक्-गण सोम राजाको '**आप्यायस्व-अपक्षीयस्व**' ऐसा कहकर चमसमें भरकर पी जाते हैं, उसी प्रकार इन्हें देवगण भक्षण कर जाते हैं। जब उनके कर्म क्षीण हो जाते हैं तो वे इस आकाशको ही प्राप्त होते हैं। आकाशसे वायुको, वायुसे वृष्टिको और वृष्टिसे पृथिवीको प्राप्त होते

हैं। पृथिवीको प्राप्त होकर वे अन्न हो जाते हैं। फिर वे पुरुषरूप अग्निमें हवन किये जाते हैं। उससे वे लोकके प्रति उत्थान करनेवाले होकर स्त्रीरूप अग्निमें उत्पन्न होते हैं। वे इसी प्रकार पुनः-पुनः परिवर्तित होते रहते हैं और जो इन दोनों मार्गोंको नहीं जानते, वे कीट, पतंग और डाँस-मच्छर आदि होते हैं॥ १६॥

तृतीय ब्राह्मण

मन्थ विद्या और उसकी परम्परा

जो ऐसा चाहता हो कि मैं महत्त्व प्राप्त करूँ, वह उत्तरायणमें शुक्लपक्षकी पुण्य-तिथिपर बारह दिन उपसद्व्रती (पयोव्रती) होकर गूलरकी लकड़ीके कंस (कटोरे) या चमसमें सर्वौषध, फल तथा अन्य सामग्रियोंको एकत्रितकर, [जहाँ हवन करना हो, उस स्थानका] परिसमूहन[1] एवं परिलेपन[2] करके अग्निस्थापन करता है और फिर अग्निके चारों ओर कुशा बिछाकर गृह्योक्त विधिसे घृतका शोधन करके, जिसका नाम पुँल्लिङ्ग हो उस [हस्त आदि] नक्षत्रमें मन्थको (औषध-फल आदिके पिण्डको) [अपने और अग्निके] बीचमें रखकर हवन करता है। ['**यावन्तो**' इत्यादि प्रथम मन्त्रका अर्थ—] हे जातवेदः! तेरे वशवर्ती जितने देवता वक्रमति होकर पुरुषकी कामनाओंका प्रतिबन्ध करते हैं, उनके उद्देश्यसे यह आज्यभाग मैं तुझमें हवन करता हूँ। वे तृप्त होकर मुझे समस्त कामनाओंसे तृप्त करें—स्वाहा[3] ['**या तिरश्ची**' इत्यादि द्वितीय मन्त्रका अर्थ—] 'मैं सबकी मृत्युको धारण करनेवाला हूँ' ऐसा समझकर जो कुटिलमति देवता तेरा आश्रय करके रहता है, सब साधनोंकी पूर्ति करनेवाले उस देवताके लिये मैं घृतकी धारासे यजन करता हूँ—स्वाहा॥ १॥

'**ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा**' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको (स्रुवामें बचे हुए घृतको) मन्थमें डाल देता है। '**प्राणाय स्वाहा, वसिष्ठायै स्वाहा**' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। '**वाचे स्वाहा, प्रतिष्ठायै स्वाहा**' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। '**चक्षुषे स्वाहा, सम्पदे स्वाहा**' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। '**श्रोत्राय स्वाहा, आयतनाय स्वाहा**' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। '**मनसे स्वाहा, प्रजात्यै स्वाहा**' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। '**रेतसे स्वाहा**' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है॥ २॥

'**अग्नये स्वाहा**' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। '**सोमाय स्वाहा**' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। '**भूः स्वाहा**' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। '**भुवः स्वाहा**' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। '**स्वः स्वाहा**' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। '**भूर्भुवः स्वः स्वाहा**' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। '**ब्रह्मणे स्वाहा**' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। '**क्षत्राय स्वाहा**' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। '**भूताय स्वाहा**' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। '**भविष्यते स्वाहा**' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। '**विश्वाय स्वाहा**' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। '**सर्वाय स्वाहा**' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। '**प्रजापतये स्वाहा**' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है॥ ३॥

इसके पश्चात् उस मन्थको '**भ्रमदसि**' इत्यादि मन्त्रद्वारा स्पर्श करता है। [मन्थद्रव्यका अधिष्ठातृदेव प्राण है, इसलिये प्राणसे एकरूप होनेके कारण वह सर्वात्मक है। '**भ्रमदसि**' इत्यादि मन्त्रका अर्थ इस प्रकार है—] तू [प्राणरूपसे सम्पूर्ण देहोंमें] घूमनेवाला है, [अग्निरूपसे सर्वत्र] प्रज्वलित होनेवाला है, [ब्रह्मरूपसे] पूर्ण है, [आकाशरूपसे] अत्यन्त स्तब्ध [निष्कम्प] है, [सबसे अविरोधी होनेके कारण] तू यह जगद्रूप एक सभाके समान है, तू ही [यज्ञके आरम्भमें प्रस्तोताके द्वारा]

१. कुशोंसे बुहारना। २. गोबर और जलसे वेदीको लीपना। ३. जहाँ-जहाँ 'स्वाहा' आये, वहाँ आहुति देनी चाहिये।

हिङ्कृत है, तथा [उसी प्रस्तोताद्वारा यज्ञमें] तू ही हिङ्क्रियमाण है, [यज्ञारम्भमें उद्गाताद्वारा] तू ही उच्च स्वरसे गाया जानेवाला उद्गीथ है और [यज्ञके मध्यमें उसके द्वारा] तू ही उद्गीयमान है। तू ही [अध्वर्युद्वारा] श्रावित और [आग्नीध्रद्वारा] प्रत्याश्रावित है; आर्द्र [अर्थात् मेघ]-में सम्यक् प्रकारसे दीप्त है, तू विभु (विविधरूप होनेवाला) है और प्रभु (समर्थ) है, तू [भोक्ता अग्नि-रूपसे] ज्योति है, [कारणरूपसे] सबका प्रलयस्थान है तथा [सबका संहार करनेवाला होनेसे] संवर्ग है॥ ४॥

फिर '**आमꣳसि आमꣳहि**' इत्यादि मन्त्रसे इसे ऊपर उठाता है। [इस मन्त्रका अर्थ—] '**आमंसि**'—तू सब जानता है, '**आमंहि ते महि**'—मैं तेरी महिमाको अच्छी तरह जानता हूँ। वह प्राण राजा, ईशान (ईश्वर) और अधिपति है। वह मुझे राजा, ईशान और अधिपति करे॥ ५॥

इसके पश्चात् '**तत्सवितुर्वरेण्यम्**' इत्यादि मन्त्रसे इस मन्थको भक्षण करता है। ['**तत्सवितुः**' इत्यादि मन्त्रका अर्थ—] '**तत्सवितुर्वरेण्यम्**'—सूर्यके उस वरेण्य—श्रेष्ठ पदका मैं ध्यान करता हूँ। '**वाता मधु ऋतायते**'—पवन मधुर, मन्द गतिसे बह रहा है। '**सिन्धवः मधु क्षरन्ति**'—नदियाँ मधु-रसका स्त्राव कर रही हैं। '**नः ओषधीः माध्वीः सन्तु**'—हमारे लिये ओषधियाँ मधुर हों। '**भूः स्वाहा**' [यहाँतकके मन्त्रसे मन्थका पहला ग्रास भक्षण करे।] '**देवस्य भर्गः धीमहि**'—हम सवितादेवके तेजका ध्यान करते हैं। '**नक्तमुत उषसः मधु**'—रात और दिन सुखकर हों। '**पार्थिवं रजः मधुमत्**'—पृथिवीके धूलिकण उद्वेग न करनेवाले हों। '**द्यौः पिता नः मधु अस्तु**'—पिता द्युलोक हमारे लिये सुखकर हो। '**भुवः स्वाहा**' [यहाँतकके मन्त्रसे दूसरा ग्रास भक्षण करे]। '**यः नः धियः प्रचोदयात्**'—जो सवितादेव हमारी बुद्धियोंको प्रेरित करता है। '**नः वनस्पतिः मधुमान्**'—हमारे लिये वनस्पति (सोम) मधुर रसमय हो। '**सूर्यः मधुमान् अस्तु**'—सूर्य हमारे लिये मधुमान् हो। '**गावः नः माध्वीः भवन्तु**'—किरणें अथवा दिशाएँ हमारे लिये सुखकर हों। '**स्वः स्वाहा**' [यहाँतकके मन्त्रसे तृतीय ग्रास भक्षण करे]। इसके पश्चात् सम्पूर्ण सावित्री (गायत्रीमन्त्र), '**मधु वाता ऋतायते**' इत्यादि समस्त मधुमती ऋचा और '**अहमेवेदं सर्वं भूयासम्**' (यह सब मैं ही हो जाऊँ) '**भूर्भुवः स्वाहा**'—इस प्रकार कहकर अन्तमें समस्त मन्थको भक्षणकर, दोनों हाथ धो, अग्निके पश्चिमभागमें पूर्वकी ओर सिर करके बैठता है। प्रातःकालमें '**दिशामेक-पुण्डरीकमस्यहं.... भूयासम्***' इस मन्त्रद्वारा आदित्यका उपस्थान (नमस्कार) करता है। फिर जिस मार्गसे गया होता है, उसीसे लौटकर अग्निके पश्चिम भागमें बैठकर [आगे कहे जानेवाले] वंशको जपता है॥ ६॥

उस इस मन्थका उद्दालक आरुणिने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्यको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इस मन्थको सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे।' उस इस मन्थका वाजसनेय याज्ञवल्क्यने अपने शिष्य मधुक पैङ्ग्यको उपदेश करके कहा था, यदि कोई इसे सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे।' उस इस मन्थका मधुक पैङ्ग्यने अपने शिष्य चूल भागवित्तिको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे।'

उस इस मन्थका चूल भागवित्तिने अपने शिष्य जानकि आयस्थूणको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे।' उस इस मन्थका जानकि आयस्थूणने अपने शिष्य सत्यकाम जाबालको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे।' उस इस मन्थका सत्यकाम जाबालने अपने शिष्योंको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे।' उस इस मन्थका, जो पुत्र या शिष्य न हो, उसे उपदेश न करे॥ ७—१२॥

यह मन्थकर्म चतुरौदुम्बर (चार औदुम्बरकाष्ठके बने पदार्थोंवाला) है। इसमें औदुम्बरकाष्ठ (गूलरकी लकड़ी)-का स्रुव, औदुम्बरकाष्ठका चमस, औदुम्बरकाष्ठका इध्म और औदुम्बरकाष्ठकी दो उपमन्थनी होती हैं। इसमें व्रीहि (धान), यव (जौ), तिल, माष (उड़द), अणु

* तू दिशाओंका एक पुण्डरीक (अर्थात् अखण्ड श्रेष्ठ) है, मैं मनुष्योंमें एक पुण्डरीक होऊँ।

(साँवाँ), प्रियङ्गु (काँगनी), गोधूम (गेहूँ), मसूर, खल्व (बाल) और खलकुल (कुलथी)—ये दस ग्रामीण अन्न उपयुक्त होते हैं। उन्हें पीसकर दही, मधु और घृतमें मिलाकर घृतसे हवन करता है॥ १३॥

चतुर्थ ब्राह्मण

सन्तानोत्पत्ति-विज्ञान

(इच्छानुसार सद्गुणयुक्त सन्तान उत्पन्न करने, सर्वथा न उत्पन्न करने तथा संयमयुक्त जीवन-निर्माण करनेकी युक्ति बतलानेके लिये इस ब्राह्मणका आरम्भ किया जाता है; मन्थाख्य कर्मकर्ता प्राणदर्शी पुरुषका ही इसमें अधिकार है।)

चराचर समस्त भूतोंका रस—सार अथवा आधार पृथिवी है, पृथिवीका रस जल है, जलका रस—उसपर निर्भर करनेवाली ओषधियाँ हैं, ओषधियोंका रस—सार पुष्प है, पुष्पका रस फल है, फलका रस—आधार पुरुष है, पुरुषका रस—सार शुक्र है। प्रसिद्ध प्रजापतिने विचार किया कि इस शुक्रकी उपयुक्त प्रतिष्ठाके लिये कोई आधार चाहिये; इसलिये उसने स्त्रीकी सृष्टि की और उसके अधोभाग-सेवनका विधान किया। (यहाँ यदि यह कहा जाय कि इस पाशविक क्रियामें तो प्राणिमात्रकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है, इसके लिये विधान क्यों किया गया तो इसका उत्तर यह है कि यह विधान इसीलिये बनाया गया कि जिसमें पुरुषोंकी स्वेच्छाचारिताका निरोध हो और इस विज्ञानसे परिचित पुरुषोंके द्वारा केवल श्रेष्ठ सन्तानोत्पत्तिके लिये ही इसका सेवन किया जाय।) इसके लिये प्रजापतिने प्रजननेन्द्रियको उत्पन्न किया। अतएव इस विषयसे घृणा नहीं करनी चाहिये। अरुणके पुत्र विद्वान् उद्दालक और नाक-मौद्गल्य तथा कुमारहारीत ऋषिने भी कहा है कि बहुत-से ऐसे मरणधर्मा नामके ब्राह्मण हैं जो निरिन्द्रिय, सुकृतहीन, मैथुन-विज्ञानसे अपरिचित होकर भी मैथुन-कर्ममें आसक्त होते हैं; उनकी परलोकमें दुर्गति होती है। (इससे अशास्त्रीय तथा अबाध मैथुन-कर्मका पापहेतुत्व सूचित किया गया है।)

इस प्रकार मन्थ-कर्म करके ब्रह्मचर्यधारणपूर्वक पुरुषको पत्नीके ऋतुकालकी प्रतीक्षा करनी चाहिये। यदि इस बीचमें स्वप्नदोषादिके द्वारा शुक्र क्षरण हो जाय तो उसकी पुनः प्राप्ति तथा वृद्धिके लिये '**यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः, इदमहं तद्रेत आददे।**' तथा '**पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः। पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्ताम्।**' इन मन्त्रोंका पाठ करे। (इससे स्वप्नदोषादि व्याधियोंका नाश होता है।)

यदि कदाचित् जलमें अपनी छाया दीख जाय तो '**मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणꣳ सुकृतम्।**' (मुझे तेज, इन्द्रियशक्ति, यश, धन और पुण्यकी प्राप्ति हो) इस मन्त्रको पढ़े। ऋतुकालकी तीन रात बीतनेपर जब पत्नी स्नान करके शुद्ध हो जाय, तब 'स्त्रियोंमें मेरी यह पत्नी लक्ष्मीके समान है, इसलिये निर्मल वस्त्र पहने हुए है' यह विचारकर उस यशस्विनी पत्नीके समीप जाकर 'हम दोनों सन्तानोत्पादनके लिये क्रिया करेंगे' कहकर आमन्त्रण करे। लज्जा अथवा हठवश स्त्री यदि मिथुन-धर्मके लिये अस्वीकार करे तो उसे आभरणादिद्वारा तथा अभिशापादिद्वारा प्रेरित करे। पुरुषके '**इन्द्रियेण ते यशसा यश आददे**' इस मन्त्रयुक्त अभिशापसे स्त्री अयशस्विनी—वन्ध्या हो जाती है। परंतु यदि स्त्री अपने स्वामीकी अभिलाषा पूर्ण करती है तो स्वामीके '**इन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामि**' इस मन्त्रपाठपूर्वक उपगत होनेसे पत्नी निश्चय ही यशस्विनी—पुत्रवती होती है। मन्थोपासक अपनी पत्नीको कामनापरायण करना चाहे तो उस समय वह '**अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे। स त्वमङ्गकषायोसि दिग्धविद्धमिव मादयेमाममूं मयि।**' मन्त्रका जप करे।

यदि किसी कारणवश गर्भनिरोधकी आवश्यकता हो तो उस समय '**इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आददे**' मन्त्रका जाप करे। ऐसा करनेपर पत्नी गर्भवती नहीं होगी* और

* आजकल गर्भनिरोधके लिये कैसी-कैसी तामसी क्रियाएँ की जाती हैं; पर ये होती हैं प्रायः असंयमकी वृद्धिके लिये। और यह वैदिक प्रक्रिया थी अपनी धर्मपत्नीको कभी गर्भधारण न कराना हो तो उसके लिये। संयमी पुरुष ही ऐसा कर सकते थे।

यदि यह इच्छा हो कि पत्नी गर्भधारण करे तो उस समय '**इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामि**' इस मन्त्रका पाठ करे; इससे वह निश्चय ही गर्भवती हो जायगी।

यदि कभी अपनी भार्याके साथ किसी जारका सम्बन्ध हो जाय और उसे दण्ड देना हो तो पहले कच्ची मिट्टीके बरतनमें अग्नि-स्थापन करके समस्त कर्मोंको विपरीत रीतिसे करे और कुछ सरके तिनकोंके अग्रभागको घीमें भिगोकर विपरीत क्रमसे ही उनका होम करे। आहुतिके पहले '**मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसौ**' आदि मन्त्रोंका पाठ करके अन्तमें प्रत्येक बार '**असौ**' बोलकर उसका नाम ले। इस प्रकार करनेसे वह पुण्यसे स्खलित होकर मृत्युको प्राप्त हो जाता है।

ऋतुमती पत्नीका त्रिरात्र ब्रह्म (तीन रात्रियोंका पृथक् निवासादि) समाप्त होनेपर स्नान करनेके बाद उसे धान कूटना आदि गृहस्थीका काम करना चाहिये। तीन दिनोंतक उसे अलग रहना चाहिये, किसीका स्पर्श नहीं करना चाहिये।

जो पुरुष चाहता हो कि मेरा पुत्र गौरवर्ण हो, एक वेदका अध्ययन करनेवाला हो और पूरे सौ वर्षोंतक जीवित रहे, उसको दूध-चावलकी खीर बनाकर उसमें घी मिलाकर पत्नीसहित खाना चाहिये। जो कपिलवर्ण, दो वेदोंका अध्ययन करनेवाला और पूर्णायु पुत्र चाहता हो, उसको दहीमें चावल पकाकर पत्नीसहित खाना चाहिये। जो श्यामवर्ण, रक्तनेत्र, वेदत्रयीका अध्ययन करनेवाले, पूर्णायु पुत्रकी इच्छा करता हो, उसे जलमें चावल (भात) पकाकर घी मिलाकर पत्नीसहित खाना चाहिये। जो चाहता हो कि मेरे पूर्ण आयुवाली विदुषी कन्या हो, उसे तिल-चावलकी खिचड़ी बनाकर पत्नीसहित खाना चाहिये और जो चाहता हो कि मेरा पुत्र प्रसिद्ध पण्डित, वेदवादियोंकी सभामें जानेवाला, सुन्दर वाणी बोलनेवाला, सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करनेवाला और पूर्ण आयुष्मान् हो, वह उड़द-चावलकी खिचड़ी पकाकर उसमें '**उक्षन्**'[1] अथवा '**ऋषभ**'[2] नामक बल-वीर्यवर्द्धक ओषधि मिलाकर घृतसहित पति-पत्नी दोनों भोजन करें।

गर्भाधान करनेवालेको प्रातःकाल ही स्थालीपाक-विधिके अनुसार घीका संस्कार (शोधन) करके और चरुपाक बनाकर '**अग्नये स्वाहा**', '**अनुमतये स्वाहा**' एवं '**देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा**' इन मन्त्रोंसे अग्निमें आहुतियाँ देनी चाहिये। होम समाप्त करके चरुमें बचा हुआ भोजन करके शेष पत्नीको भोजन कराना चाहिये। फिर हाथ धोकर जलका कलश भरके '**उत्तिष्ठातोविश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सह**' मन्त्रके द्वारा पत्नीका तीन बार अभ्युक्षण (अभिषेचन) करना चाहिये।

तदनन्तर पति अपनी कामनाके अनुसार पत्नीको भोजन कराके शयनके समय बुलाकर कहे कि "देखो, मैं अम (प्राण) हूँ और तुम प्राणरूप मेरे

---

१. 'उक्षन्' शब्दके कोषमें दो प्रकारके अर्थ मिलते हैं। कलकत्तेसे प्रकाशित 'वाचस्पत्य' नामक बृहत् संस्कृताभिधानमें उसे अष्टवर्गान्तर्गत 'ऋषभ' नामक ओषधिका पर्याय माना गया है—'ऋषभौषधौ च'। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् सर मोनियर विलियम्सने अपने बृहत् संस्कृत-अंग्रेजी-कोषमें इसे 'सोम' नामक पौधेका पर्याय माना है।

२. 'ऋषभ' नामक ओषधिका आयुर्वेदके अत्यन्त प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थ 'सुश्रुत-संहिता' के 'सूत्रस्थान' नामक प्रथम खण्डके ३८ वें अध्यायमें (जो द्रव्यसंग्रहणीयाध्याय भी कहलाता है) सैंतीस द्रव्यगणोंके अन्तर्गत उल्लेख हुआ है। 'भावप्रकाश' नामक प्रसिद्ध संग्रह-ग्रन्थमें उसका वर्णन इस रूपमें आया है—

जीवकर्षभकौ ज्ञेयौ हिमाद्रिशिखरोद्भवौ । रसोतकन्दवत्कन्दौ निःसारौ सूक्ष्मपत्रकौ॥
..... ऋषभो वृषशृङ्गवत्।..... ॥
ऋषभो वृषभो वीरो विषाणी ब्राह्म इत्यपि।
जीवकर्षभकौ वल्यौ शीतौ शुक्रकफप्रदौ । मधुरौ पित्तदाहघ्नौ काशवातक्षयावहौ॥

'जीवक और ऋषभक (ऋषभ) नामकी ओषधियाँ हिमालयके शिखरपर उत्पन्न होती हैं। उनकी जड़ लहसुनके सदृश होती है। दोनोंमें ही गूदा नहीं होता, केवल त्वचा होती है; दोनोंमें छोटी-छोटी पत्तियाँ होती हैं। इनमेंसे ऋषभ बैलके सींगकी आकृतिका होता है। इसके दूसरे नाम हैं—वृषभ, वीर, विषाणी, ब्राह्म आदि। जीवक और ऋषभ दोनों ही बलकारक, शीतवीर्य, वीर्य और कफ बढ़ानेवाले, मधुर, पित्त और दाहका शमन करनेवाले तथा खाँसी, वायु एवं यक्ष्माको दूर करनेवाले हैं।'

ऋषभकी प्रसिद्ध अष्टवर्ग नामक ओषधियोंमें गणना है। भावप्रकाशकार लिखते हैं—

जीवकर्षभकौ मेदे काकोल्यौ ऋद्धिवृद्धिके । अष्टवर्गोऽष्टभिर्द्रव्यैः कथितश्चरकादिभिः॥

अधीन वाक् हो। मैं साम हूँ और तुम सामका आधाररूप ऋक् हो, मैं आकाश हूँ और तुम पृथिवी हो। अतएव आओ, तुम-हम दोनों मिलें, जिससे हमें पुत्र-सन्तान और तदनुगत धनकी प्राप्ति हो। इसके पश्चात् 'द्यावा पृथिवी' इत्यादि मन्त्रसे सम्बोधन करके 'विष्णुर्योनि' इत्यादि मन्त्रके अनुसार प्रार्थना करे "भगवान् विष्णु तुम्हारी जननेन्द्रियको पुत्रोत्पादनमें समर्थ करें, त्वष्टा सूर्य रूपोंको दर्शनयोग्य करें, विराट् पुरुष प्रजापति रेतःसेचन करायें, सूत्रात्मा विधाता तुममें अभिन्नभावसे स्थित होकर गर्भ धारण करें। सिनीवाली नामकी अत्यन्त सुन्दर देवता तुममें अभेदरूपसे एवं पृथुष्टुका नामकी महान् स्तुतिशाली देवता भी तुममें हैं। मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि 'हे सिनीवालि! हे पृथुष्टुके! तुम इस गर्भको धारण करो।' दोनों अश्विनीकुमार अथवा चन्द्र-सूर्य तुम्हारे साथ रहकर इस गर्भको धारण करें।"

"दोनों अश्विनीकुमार हिरण्मय दो अरणियोंके द्वारा मन्थन करते हैं। मैं दसवें मासमें प्रसव होनेके लिये गर्भाधान करता हूँ। पृथ्वी जैसे अग्निगर्भा है, आकाश जैसे सूर्यके द्वारा गर्भवती है, दिशाएँ जैसे वायुके द्वारा गर्भवती हैं, मैं तुमको उसी प्रकार गर्भ अर्पण करके गर्भवती करता हूँ।" यों कहकर गर्भाधान करे।

तदनन्तर सुखपूर्वक प्रसव हो जाय, इसके लिये 'यथावायुः' इत्यादि मन्त्रके द्वारा आसन्नप्रसवा पत्नीका अभिषेचन करे और कहे—'जैसे वायु पुष्करिणीको सब ओरसे हिला देता है, वैसे ही तुम्हारा गर्भ भी अपने स्थानसे खिसककर जेरके साथ बाहर निकल आये। तुम्हारे तेजस्वी गर्भका मार्ग रुका हुआ है और चारों ओर जेरसे घिरा है। गर्भके साथ उस जेरको भी निकाल बाहर करें और गर्भ निकलनेके समय जो मांसपेशी बाहर निकला करती है, वह भी निकल जाय।'

पश्चात् पुत्रका जन्म हो जानेपर अग्निस्थापन करके पुत्रको गोदमें ले और आज्यस्थालीमें दही मिला हुआ घृत रखकर उसे थोड़ा-थोड़ा लेकर यह कहता हुआ बार-बार अग्निमें होम करे कि 'इस अपने घरमें मैं पुत्ररूपसे बढ़कर सहस्रों मनुष्योंका पालन करूँ; मेरे इस पुत्रके वंशमें सन्तान-लक्ष्मी तथा पशु-सम्पत्ति लगातार बनी रहे; मुझमें (पितामें) जो प्राण (इन्द्रियाँ) हैं, वे सभी मन-ही-मन मैं तुम्हें (पुत्रको) दे रहा हूँ; मेरे इस कर्ममें कोई न्यूनाधिकता हो गयी हो तो विद्वान् एवं वाञ्छापूरक अग्नि उसे पूर्ण कर दें।'

तदनन्तर पिता बालकके दाहिने कानमें अपना मुख लगाकर 'वाक्, वाक्, वाक्' इस प्रकार तीन बार जप करे। तदनन्तर दधि, मधु और घृत मिलाकर पास ही रखे हुए सोनेके पात्रके द्वारा क्रमशः—

'भूस्ते दधामि', 'भुवस्ते दधामि', 'स्वस्ते दधामि', 'भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि'

—यों कहकर चार बार उसे चटाये। फिर पिता उस पुत्रका '**वेदोऽसि**' बोलकर 'नामकरण' करे—'वेद' यह नाम रखे। उसका यह नाम अत्यन्त गोपनीय होता है। इसे सर्वसाधारणमें प्रकट नहीं करना चाहिये। इसके बाद गोदमें स्थित उस शिशुको माताकी गोदमें रखकर तथा स्तन देकर इस मन्त्रका पाठ करे—

'यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः। येन विश्वा पुष्यसि वीर्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकः।'

अर्थात् 'हे सरस्वति! तुम्हारा जो स्तन दूधका अक्षय भण्डार तथा पोषणका आधार है, जो रत्नोंकी खान है तथा सम्पूर्ण धन-राशिका ज्ञाता एवं उदार दानी है, और जिसके द्वारा तुम समस्त वरणीय पदार्थोंका पोषण करती हो, तुम इस सत्पुत्रके जीवन-धारणार्थ उस स्तनको मेरी भार्यामें प्रविष्ट करा दो।'

तदनन्तर बालककी माताको इस प्रकार अभिमन्त्रित करे—उसे सम्बोधन करके कहे, 'तुम ही स्तुतिके योग्य मैत्रा-वरुणी (अरुन्धती) हो; हे वीरे! तुमने वीर पुत्रको जन्म देकर हमें वीरवान्—वीर पुत्रका पिता बनाया है, अतः तुम वीरवती होओ। इसे लोग कहें—तू सचमुच अपने पितासे भी आगे बढ़ गया, तू निस्सन्देह अपने पितामहसे भी श्रेष्ठ निकला।'

इस प्रकारके विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न ब्राह्मणके जो पुत्र होता है, वह श्री, यश और ब्रह्मतेजके द्वारा सर्वोच्च स्थितिको प्राप्त कर लेता है॥ १—२८॥

पञ्चम ब्राह्मण

समस्त प्रवचनकी परम्पराका वर्णन

अब वंश (परम्परा)-का वर्णन किया जाता है—पौतिमाषीपुत्रने कात्यायनीपुत्रसे, कात्यायनीपुत्रने गौतमीपुत्रसे, गौतमीपुत्रने भारद्वाजीपुत्रसे, भारद्वाजीपुत्रने पाराशरीपुत्रसे, पाराशरीपुत्रने औपस्वस्तीपुत्रसे, औपस्वस्तीपुत्रने पाराशरीपुत्रसे, पाराशरीपुत्रने कात्यायनीपुत्रसे, कात्यायनीपुत्रने कौशिकीपुत्रसे, कौशिकीपुत्रने आलम्बीपुत्रसे और वैयाघ्रपदीपुत्रसे, वैयाघ्रपदीपुत्रने काण्वीपुत्रसे तथा कापीपुत्रसे, कापीपुत्रने आत्रेयीपुत्रसे, आत्रेयीपुत्रने गौतमीपुत्रसे, गौतमीपुत्रने भारद्वाजीपुत्रसे, भारद्वाजीपुत्रने पाराशरीपुत्रसे, पाराशरीपुत्रने वात्सीपुत्रसे, वात्सीपुत्रने पाराशरीपुत्रसे, पाराशरीपुत्रने वार्कारुणीपुत्रसे, वार्कारुणीपुत्रने वार्कारुणीपुत्रसे, वार्कारुणीपुत्रने आर्तभागीपुत्रसे, आर्तभागीपुत्रने शौङ्गीपुत्रसे, शौङ्गीपुत्रने साङ्कृतीपुत्रसे, साङ्कृतीपुत्रने आलम्बायनीपुत्रसे, आलम्बायनीपुत्रने आलम्बीपुत्रसे, आलम्बीपुत्रने जायन्तीपुत्रसे, जायन्तीपुत्रने माण्डूकायनीपुत्रसे, माण्डूकायनीपुत्रने माण्डूकीपुत्रसे, माण्डूकीपुत्रने शाण्डिलीपुत्रसे, शाण्डिलीपुत्रने राथीतरीपुत्रसे, राथीतरीपुत्रने भालुकीपुत्रसे, भालुकीपुत्रने दो क्रौञ्चिकीपुत्रोंसे, दोनों क्रौञ्चिकीपुत्रोंने वैदभृतीपुत्रसे, वैदभृतीपुत्रने कार्शकेयीपुत्रसे, कार्शकेयीपुत्रने प्राचीनयोगीपुत्रसे, प्राचीनयोगीपुत्रने साञ्जीवीपुत्रसे, साञ्जीवीपुत्रने आसुरिवासी प्राश्नीपुत्रसे, प्राश्नीपुत्रने आसुरायणसे, आसुरायणने आसुरिसे, आसुरिने याज्ञवल्क्यसे, याज्ञवल्क्यने उद्दालकसे, उद्दालकने अरुणसे, अरुणने उपवेशिसे, उपवेशिने कुश्रिसे, कुश्रिने वाजश्रवासे, वाजश्रवाने जिह्वावान् बाध्योगसे, जिह्वावान् बाध्योगने असित वार्षगणसे, असित वार्षगणने हरित कश्यपसे, हरित कश्यपने शिल्प कश्यपसे, शिल्प कश्यपने कश्यप नैध्रुविसे, कश्यप नैध्रुविने वाक्से, वाक्ने अम्भिणीसे, अम्भिणीने आदित्यसे, आदित्यसे प्राप्त हुई ये शुक्लयजुःश्रुतियाँ वाजसनेय याज्ञवल्क्य द्वारा प्रसिद्ध की गयीं। साञ्जीवी पुत्रपर्यन्त यह एक ही वंश है। साञ्जीवीपुत्रने माण्डूकायनिसे, माण्डूकायनिने माण्डव्यसे, माण्डव्यने कौत्ससे, कौत्सने माहित्थिसे, माहित्थिने वामकक्षायणसे, वामकक्षायणने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने वात्स्यसे, वात्स्यने कुश्रिसे, कुश्रिने यज्ञवचा राजस्तम्बायनसे, यज्ञवचा राजस्तम्बायनने तुर कावषेयसे, तुर कावषेयने प्रजापतिसे और प्रजापतिने ब्रह्मसे। ब्रह्म स्वयम्भू है, स्वयम्भू ब्रह्मको नमस्कार है॥ १—४॥

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त॥ ६॥

॥ शुक्लयजुर्वेदीय बृहदारण्यकोपनिषद् समाप्त॥

॥ ॐ तत्सत्॥

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

[इसका अर्थ ईशावास्योपनिषद्के प्रारम्भमें दिया जा चुका है।]